जैन भारती

नवंबर, 2007 • वर्ष 55 • अंक 11 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

WHILE IN BANGALORE STAY AT

Enjoy Star Facility At Moderate Tariff

HOTEL MAHAVEER

Ideally located in the Heart of the City

Proximate to Shopping & Entertainment Centers,
Well Furnished Rooms, with Attached Bathroom, Telephone, T.V. etc.,
Pure Vegetarian, A/c Rooms Available, Decorated Lobby,
Personalized Room Service, Credit Cards Accepted, Doctor on Call.

 # 8/1 & 9, Tank Bund Road, (Near City Railway Station)
Bangalore 560053 (INDIA)
Tel : (080) 2287 3670, 3271 0384, Fax : 2287 3670.

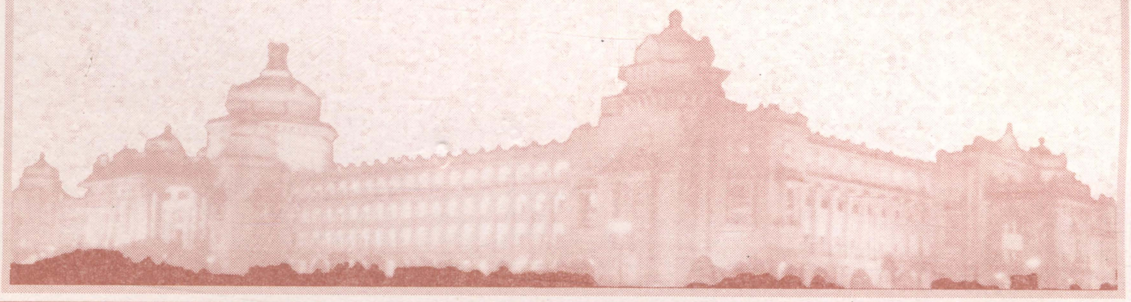

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • नवंबर, 2007 • अंक 11

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सत्य—अनंत शक्ति; असीम ऊर्जा

18
वंदना कुंडलिया
वैश्वीकरण—मानवीय नहीं; निर्मोही

23
साध्वी श्रुतयशा
अवधिज्ञान—उत्पत्ति स्थान

•
आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

29
महात्मा गांधी
अहिंसा का मार्ग

34
समणी अमितप्रज्ञा
तुलसी : अकिंचन का अलौकिक सौंदर्य

36
समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा
आचार्य तुलसी : बिना दीवारों का मंदिर

41
कहानी
मामोनी रायसम गोस्वामी
हिम साम्राज्ञी

46
कविता
विनोदकुमार शुक्ल की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
अंतर की गुफा

शीलन

49
साध्वी नगीना
अनेकांत : समन्वयवादी जीवन-दर्शन

53
साध्वी शुभ्रयशा
संतुलित लय : स्वस्थ मस्तिष्क

56
बालकथा
शंकर
गिलहरी रानी

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

आज तो रह जाते हैं

भीखणजी स्वामी सिरियारी से विहार कर रहे थे। तब सामो भंडारी उनके चरणों में अपनी पगड़ी रख कर आग्रहपूर्वक बोला—'आज आप विहार न करें।'

तब स्वामीजी बोले—'आज तो हम रह जाते हैं, पर भविष्य में ऐसा आग्रहपूर्ण अनुरोध मत करना।'

आज तो वापस चलें

स्वामीजी आगरिया से विहार कर रहे थे, तब भाइयों ने वहां रहने के लिए अत्यंत आग्रह किया। पर स्वामीजी ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे विहार कर गए। गांव के बाहर कुछ दूर गए। तब भारीमालजी स्वामी बोले—'आपने प्रार्थना नहीं मानी, इसलिए बेचारे भाई बहुत खिन्न और रोंआसे हो गए।'

तब स्वामीजी बोले—'आज तो वापस चलें, (पर उन्हें समझा देना कि) भविष्य में आग्रहपूर्ण अनुरोध न करें।'

मेरी सामर्थ्य इतनी ही है

ढूंढाड़ (जयपुर राज्य का एक प्रदेश) के एक गांव में स्वामीजी पधारे। वहां के जागीरदार ने स्वामीजी के चरणों में अठन्नी (आधा रुपया) के टक्के (दो पैसे का सिक्का) रखे। स्वामीजी बोले—'हम तो टक्के-पैसे नहीं लेते।'

तब जागीरदार बोला—'आप मोहर लायक हैं, पर मेरी सामर्थ्य इतनी ही है। अगली बार आप पधारेंगे तब पूरा रुपिया भेंट करूंगा।'

तब स्वामीजी बोले—'हम तो रुपये, मोहर आदि कुछ भी नहीं रखते।'

यह सुन जागीरदार बहुत खुश हुआ। वह गुणग्राम करने लगा—'आपकी करणी धन्य है।'

खाई मिश्री, जाना जहर

पीपाड़ निवासी चोथजी बोहरा ने पाली में दुकान शुरू की। चातुर्मास पूर्ण होने पर स्वामीजी उसकी दुकान पर वस्त्र-याचना करने गए। उसने दो वासती का दान देकर पूछा—'मैं तुम्हें असाधु मानता हूं। तुम्हें वासती का दान दिया, उसमें मुझे क्या हुआ?'

तब स्वामीजी बोले—'किसी ने मिश्री खाई और जानता है कि मैंने जहर खा लिया है, तो वह मरता है या नहीं?'

तब वह बोला—'नहीं मरता, क्योंकि उसका गुण मारने का नहीं है।'

स्वामीजी बोले—'वैसे ही हम साधु हैं और तुमने हमें असाधु जान कर दान दे दिया, तो वह तुम्हारे ज्ञान की खामी है, किंतु साधु को दान देने में धर्म ही होता है।'

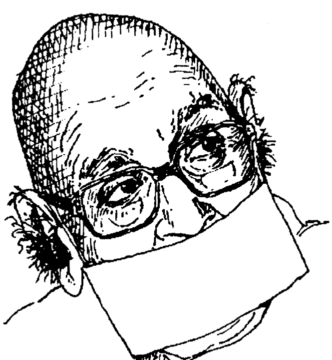

समय बदलता है। उसके साथ कुछ अवधारणाएं भी बदल जाती हैं। आज का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण इच्छाओं के विस्तार को महत्त्व देता है। उसके अनुसार विकास के लिए इच्छा बढ़ाना जरूरी है। इच्छा बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा और उत्पादन बढ़ेगा तो देश का विकास होगा। यह बीसवीं सदी का चिंतन रहा है।

भगवान महावीर के युग में झांकने के लिए लगभग पचीस सदी पूर्व के अतीत में जाना होगा। साधु और श्रावक-धर्म का वर्गीकरण भगवान महावीर का मौलिक अवदान था। उन्होंने श्रावक की जीवन-शैली का पूरा प्रारूप प्रस्तुत किया। उनके द्वारा निर्दिष्ट श्रावक की आचार-संहिता का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—इच्छा का परिमाण करो, इच्छा की सीमा करो।

एक ओर इच्छा का विस्तार, दूसरी ओर इच्छा का सीमाकरण—ये दो विरोधी ध्रुव हैं। हर विचार में सत्य का छोटा-बड़ा अंश निहित होता है। यह अनेकांत का दर्शन है। इसके अनुसार आज की अवधारणा भी अर्थहीन नहीं है। इससे विकास हुआ है, पर उसका स्वरूप भौतिक है। भौतिक विकास समस्याएं पैदा करता है। उनको समाहित करने के लिए चिंतन दूसरी ओर घूमना चाहिए, इच्छा के सीमाकरण की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

—आचार्यश्री तुलसी

कोई आदमी अपराध करता है, अहित करता है तो गुस्सा आ जाता है। 'गुस्सा' अपराधी पर आता है, तो अपने 'गुस्से' पर गुस्सा क्यों नहीं आता? जब अपना 'गुस्सा' अपने लिए अप्रिय बन जाए और छोड़ने के लिए प्रयास शुरू हो जाए तो निश्चित ही व्यक्ति साधना के पथ पर आगे बढ़ सकता है। आदमी क्रोध करता है—उससे लाभ क्या हुआ? चिंतनशील व्यक्ति को हर कार्य में लाभ-हानि का विचार करना चाहिए। अमुक काम करने से मुझे लाभ क्या होगा और हानि क्या होगी? कौन-सा पलड़ा भारी है? अगर लाभ ही लाभ है, हानि नहीं है—तो वह काम अवश्य करना चाहिए। लाभ अधिक और हानि कम हो तो भी वह काम किया जा सकता है। जिस काम में हानि ज्यादा और लाभ कम हो अथवा नहीं हो, तो वैसा काम चिंतनशील व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

अल्पस्य हेतोः बहु हातुमिच्छन, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

वह आदमी मूढ़ होता है अथवा विवेकशून्य होता है जो थोड़े के लिए बहुत को छोड़ दे।

आदमी इस छोटे-से जीवन में बहुत-कुछ पाना चाहता है। बहुत-कुछ होना चाहता है और बहुत-कुछ करना चाहता है। वह धनवान बनना चाहता है। आदमी को यह चिंतन करना चाहिए कि जीवन का अधिकांश अथवा सारा समय धनार्जन करने में ही लग जाएगा तो आत्मा का धन-अर्जन कब होगा?

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

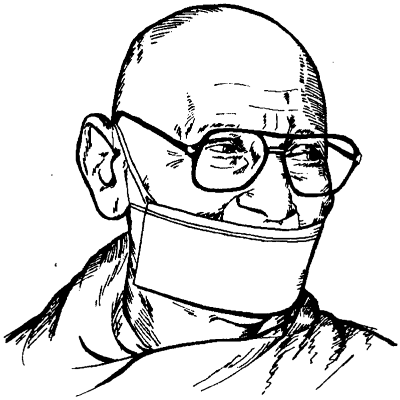

कर्मवाद और अध्यात्मयोग की दृष्टि से सबसे पहले पढ़ने का जो महत्त्वपूर्ण पाठ है—वह है जीवन का पहला अध्याय—'बचपन'। उसे पढ़ना अत्यंत आवश्यक है। ध्यान करने वाले को दस वर्ष तक की अवस्था में, बचपन की अवस्था में जाना जरूरी है। इस अवस्था में सहज समता की स्थिति रहती है। मुनि को कहा जाता है कि वह एक छोटे बच्चे की भांति रहे। बच्चे में आग्रह नहीं होता, पकड़ नहीं होती। प्रतिकूल बात होगी तो बच्चा नाराज होकर रो पड़ेगा, किंतु मन में ग्रंथि नहीं रहेगी। तत्काल भूल जाएगा। बच्चा वर्तमान-जीवी होता है। जीवन ऐसा ही होना चाहिए। बड़े आदमी का कोई अपमान कर देता है, तो वह गांठ बांध लेता है, वर्षों तक उसे नहीं भूलता। कितना अंतर है, एक 9-10 वर्ष के बच्चे में और 50-60 वर्ष के व्यक्ति में! इसीलिए जहां सरलता, निश्छलता, पवित्रता का निदर्शन करना होता है—बच्चे की बात कही जाती है। जहां दोषों के प्रायश्चित्त की बात आती है, वहां दोषी व्यक्ति को प्रेरित किया जाता है कि वह छोटे, भोले बालक की तरह अपना दोष स्पष्ट रख दे, छुपाए नहीं।

अध्यात्म-योगी के पास कोई आलोचना करने, दोष-विशुद्धि करने जाएगा तो वह कहेगा—'तुम दुख का भार ढो रहे हो, कष्ट पा रहे हो। यह सारी उस बुरे आचरण की प्रतिक्रिया है, जिस आचरण को तुमने स्वयं किया है। इसलिए तुम शारीरिक और मानसिक क्लेश पा रहे हो। अब तुम अपने मन को खोलकर रख दो और जो-कुछ किया है, उसकी पवित्र मन से आलोचना करो—भोले बालक की तरह। तुम्हारी मानसिक ग्रंथि भी खुल जाएगी और बीमारी भी मिट जाएगी।'

एक बीमार ने डाक्टर के पास सारे 'टेस्ट' और 'चेक-अप' करवा लिए। बीमारी का कोई पता नहीं चला। डाक्टर ने कहा—'तुम्हारे कोई बीमारी नहीं है।' उसने कहा—'मैं अपार दुख भोग रहा हूं और आप कहते हैं कि कोई बीमारी नहीं है, कैसे मानूं?'

कारण क्या है? डाक्टरों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। चिकित्सा के आधुनिकतम उपकरण जिस बीमारी को पकड़ने में समर्थ हैं, वह बीमारी इस व्यक्ति के नहीं है। यह व्यक्ति जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह बीमारी इन उपकरणों से नहीं पकड़ी जा सकती। यह वृत्तियों की बीमारी है। यह भावनात्मक बीमारी है। इस बीमारी से छुटकारा तब तक नहीं मिल सकता, जब तक गांठ नहीं खुल जाती। यह गांठ तब तक नहीं खुलती जब तक व्यक्ति बचपन की अवस्था में नहीं चला जाता, उस सुदूर अतीत की यात्रा पर नहीं निकल पड़ता। जब तक वह सरल बन कर अपने मन की बात को नहीं खोल देता, तब तक उस बीमारी से छुटकारा पाना मुश्किल है।

—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

प्रसंग : बाल दिवस; 14 नवंबर

प्रसंग

अंतर की गुफा

गिजुभाई एक जगह कहते हैं—'धर्म का तत्त्व तो अंतर की गुफा में रहता है। इसके लिए तो भीतर के द्वार खोल कर झांकना पड़ता है।' इस मार्मिक सचाई की परतों में धर्म का सार ही नहीं, हमारा संपूर्ण जीवन-स्वत्व समाया हुआ है। गिजुभाई बाल-शिक्षाशास्त्र और बाल-मनोविज्ञान के अद्‌भुत मनीषी रहे हैं। उनका उपरोक्त कथन भी बाल-शिक्षा के संदर्भ में ही कहा गया है। इसी कथन को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं—'धर्म की वास्तविकताओं का ज्ञान, कर्मकांड का क्रियाडंबर, पांडित्य, हठयुक्त जप-तप आदि धर्म नहीं हैं, धर्म के सुंदर कवच मात्र हैं। धार्मिकता का मूल्य इसी भावना के जाग्रत होने में है, अन्यथा वह दंभपोषी सिद्धांत बन जाता है। धार्मिकता का अर्थ कीर्तिदान नहीं, स्वार्थपूर्ण समर्पण या प्रतिफल की उम्मीद में की गई भक्ति नहीं—धार्मिकता एक वृत्ति है। सद्-असद्-विवेक-बुद्धि इस धर्म-मार्ग का आकाशदीप है। संयमित क्रियाशक्ति में इसकी प्राणशक्ति विद्यमान रहती है।' गिजुभाई सद्-असद्-विवेक-बुद्धि के फलक भी खोलते हैं और कहते हैं—'सद्-असद्-विवेक-बुद्धि—यानी इंद्रियों की शुद्धि व संस्कारिता तथा मन की निर्मल ग्रहणशक्ति, मापनशक्ति व निर्णयशक्ति।'

गिजुभाई अपने इस कथन को आगे बढ़ाते हुए एक और बात कहते हैं। वे कहते हैं—'··· पर धार्मिकता अभी एक और तत्त्व की अपेक्षा रखती है, और वह है—प्रेम। जीवन की उत्कृष्टता व परम सफलता इस तत्त्व की प्राप्ति में निहित है। इस तत्त्व ने समस्त सचराचर जगत को जोड़ रखा है।' वे आगे चल कर कहते हैं—'यह तत्त्व बालक को मां के दूध के साथ उपलब्ध होता है और वहां से वह आगे विकसित होता है। यह तत्त्व मनुष्य की संजीवनी है। इसके विकास में मनुष्य-जीवन का उद्धार है।' गिजुभाई के अनुसार—'निर्मल बुद्धि, क्रियाशक्ति, कल्पनाशक्ति तथा प्रेम—इन चारों के सम्यक् विकास में मनुष्य की धार्मिक वृत्ति का उदय है।'

हम बात को यहीं से शुरू करते हैं कि क्या ये चार तत्त्व—निर्मल बुद्धि, क्रिया-शक्ति, कल्पनाशक्ति और प्रेम आज के मनुष्य-जीवन में विद्यमान हैं? बहुत अंशों तक हमें मानना होगा कि अधिकांशतः ये तत्त्व सिरे से ही गायब हैं। तब यह भी मानना ही होगा कि हममें धार्मिक वृत्ति का भी अभाव है। इसीलिए सम्यक् विकास से भी हम विमुख हैं। दार्शनिक-मनीषी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सम्यक् विकास के प्रसंग में मानते हैं कि केवल पदार्थ का विकास हो और चेतना का विकास न हो, तो यह संतुलित विकास नहीं कहा जा सकता है। वे नैतिक मूल्यों और अध्यात्म के विकास को आज की आवश्यकता मानते हैं और शिक्षा के साथ इनको जोड़ने पर जोर देते हुए विद्यार्थीकाल से ही इसकी शुरुआत की

बात कहते हैं। वे कहते हैं कि विद्यार्थियों में इस ओर प्रेरणा जाग्रत हो, 'उनको प्रोत्साहन मिले तथा उनकी सुप्त चेतना को जगाया जा सके—ऐसे अभिक्रम होने चाहिए।

निश्चय ही यह सब बालपन से ही शुरू हो सकता है और इसलिए इस दिशा में कुछ ठोस, कुछ सार्थक कार्य किए जाने चाहिए। बाल-शिक्षा की अवधारणाओं पर देश और दुनिया-भर में चिंता है। इस दिशा में अनेक मत व विधियां भी सामने आती रही हैं। किसी भी विधि को न पूर्ण कहा जा सकता है और न अपूर्ण। अनवरत चलने वाला यह ऐसा अनुसंधान है, जिस पर ध्यानपूर्वक विचार होता रहे और इसमें से आगे का रास्ता निकलता रहे—यह अपेक्षित है। पर, ऐसे हर अनुसंधान में, प्रयोग में 'बचपन' केंद्र में रहना जरूरी है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि ऐसे अनुसंधानकर्ताओं का बच्चों के साथ सीधा और सार्थक रिश्ता हो। ये अनुसंधानकर्ता न केवल बच्चों के बीच रहें, बल्कि सहजता के साथ, बिना किसी आवरण के और कृत्रिमता से बचते हुए वे बच्चों से घुलें-मिलें, बातचीत करें। उनके अनुसंधान की प्रयोगशाला के उपकरण जीवंत और चहकते बच्चे ही हो सकते हैं। पर, ऐसी स्थितियां समुचित रूप में शायद विद्यमान नहीं हैं। तभी तो जाने-माने शिक्षाविद् प्रो. कृष्णकुमार बच्चों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में समग्र मानवीय समझ की कमी महसूस करते हैं। यह कमी शायद इसीलिए महसूस होती है कि इसके अनुसंधानकर्ता निरर्थक आवरण और कृत्रिमता से अपने को मुक्त नहीं कर पाते हैं।

प्रो. कृष्णकुमार दो-टूक शब्दों में कहते हैं—'आधुनिक बाल-मनोविज्ञान ने बचपन का एक ऐसा रूढ़ चित्र गढ़ दिया है जो हमें बच्चों को पूरा मनुष्य, और इस नाते गंभीर सोच का हकदार मानने से रोकता है। मैं इसे एक विडंबना ही कहूंगा कि बचपन की ऐसी रूढ़ छवि गढ़े जाने में आधुनिक बाल-मनोविज्ञान ने मदद की है। इस सदी के कई बड़े मनोवैज्ञानिक इसके एकदम उलटा इरादा लेकर चले थे। उनका उद्देश्य बच्चे को एक अधूरा वयस्क मानने की पारंपरिक आदत को तोड़ना था। हुआ शायद यह कि स्वयं मनोविज्ञान अपनी शोध-विधियों के जंजाल में फंस गया और अपनी खोजों की प्रस्तुति को अतिवादिता से नहीं बचा सका। वह बचपन की सम्यक् समझ के स्थान पर एक खोखली-सी समझ उभार पाया, जिसमें विकास के चरणों पर जरूरत से कुछ ज्यादा ही जोर दिया गया था।'

यह मानने में गुरेज नहीं कि मनुष्य के शारीरिक विकास को ही उसकी वयस्कता का मानदंड मानना मुनासिब नहीं हो सकता। कोई बच्चा किसी गंभीर सोच के मानी नहीं समझ सकता, यह मानना भी उचित नहीं। एक बच्चा भी किसी गंभीर सोच का हकदार हो सकता है—यह मानना ही चाहिए। अतः वयस्क या अवयस्क होना इतना मानी नहीं रखता जितना कि उसकी अस्मिता को स्वीकार करना।

बाल-चिकित्सा विशेषज्ञ यह मानने लगे हैं कि जन्म के साथ ही शिशु के कोमल मानस-पटल पर वे सब छवियां स्थापित हो जाती हैं, जिनसे वह गुजरता है और उनका प्रभाव उसके भावी जीवन में देखा जा सकता है। अतः यह समझ लेना जरूरी हो जाता है कि 'बचपन' की उपेक्षा अथवा उसे हलके स्तर पर लेकर चेतना के विकास की बात कभी संभव नहीं हो सकती और तब निर्मल बुद्धि, क्रियाशक्ति, कल्पनाशक्ति और प्रेम जैसे तत्त्व भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं।

बालपन और बाल-मनोविज्ञान की गुत्थियां जटिल हो सकती हैं, पर जो काम इस दिशा में अलग-अलग स्तरों पर हो रहे हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान जाना जरूरी है। यह मान लेना कि इस दिशा में जो अनुसंधान कर लिए हैं, वे ही परिपूर्ण हैं—उचित नहीं होगा और न यह हमारे चिंतन को आगे बढ़ाने वाला ही सिद्ध हो सकता है। शिक्षा पर लगातार चिंता और चिंतन करते रहे शिक्षाविद् श्री शिवरतन थानवी ने गांधी और गिजुभाई को याद करते हुए ठीक ही कहा है—'दोनों के लिए जीवन का लक्ष्य सत्य का अनुसंधान था और समूचा जीवन ही उनके लिए प्रयोगशाला था। उन्होंने कभी नहीं माना कि जो उन्होंने जाना वही सत्य है। जीवन-भर वे सत्य की खोज में लगे रहे, प्रयत्न और प्रयोग करते रहे, अपने अनुभवों को दुनिया को बताते रहे और उन अनुभवों पर ध्यानपूर्वक विचार करते हुए आगे का रास्ता तय करते रहे।' बाल-दिवस पर इस बार हमारे बाल-शिक्षाशास्त्री कुछ ऐसा ही सोचें और अपनी प्रयोगशाला में सत्य का अनुसंधान करते रहें, अपने अनुभव बताते रहें—यह अपेक्षा है।

भीतर के द्वार खोल कर अंतर की गुफा में झांकने की ऐसी अपेक्षा बाल-दिवस पर स्वाभाविक ही की जा सकती है।

—शुभू पटवा

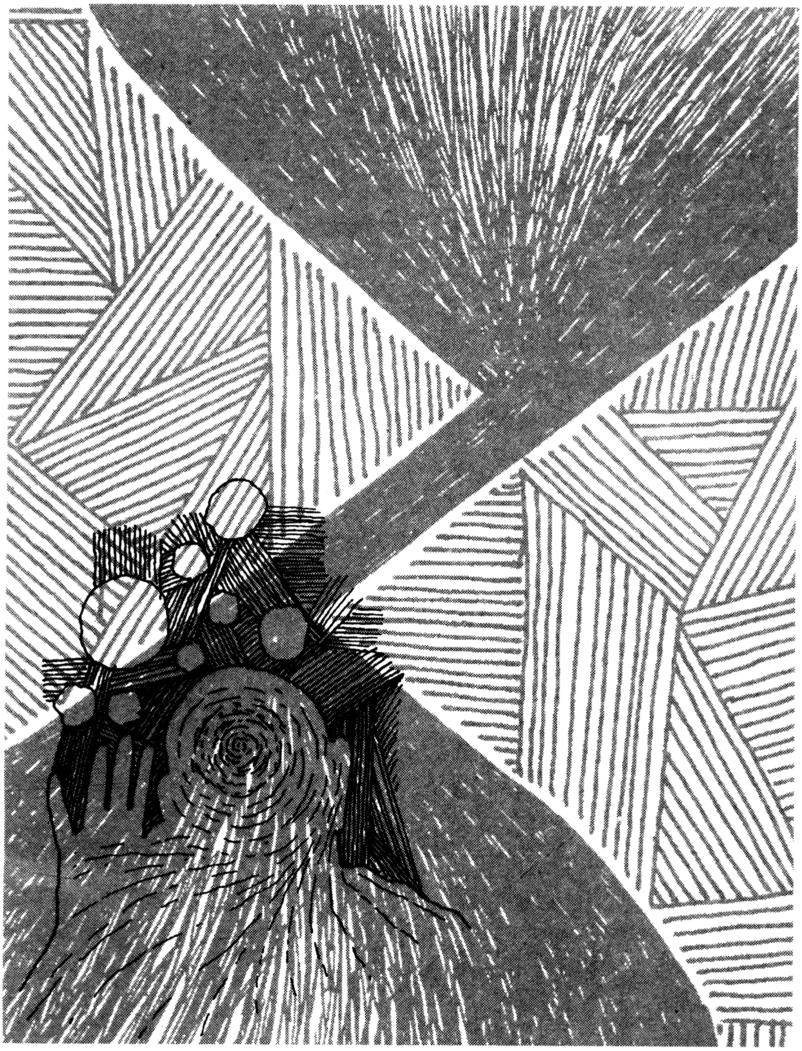

विमर्श

दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा-रूपी इंद्रिय के समक्ष संपूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि, जो वहीं संभव है जहां दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है, एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने अपने अंदर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है। इस पवित्रता का आधार है अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति, जो केवल उसी अवस्था में साक्षात हो सकती है, जब मनुष्य को अंतर्निहित उस शक्ति की उपलब्धि हो, जिसके द्वारा वह न केवल जीवन का निरीक्षण ही, अपितु पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अंतस्तम विकास से ही दार्शनिक हमारे सामने जीवन के सत्य को प्रकट करता है—उस सत्य को, जो केवल बुद्धि द्वारा प्रकाश में नहीं आ सकता। इस प्रकार की दर्शनशक्ति लगभग ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाती है, जैसे फूल से फल की उत्पत्ति होती है और इसका उत्पत्ति स्थान वह रहस्यमय केंद्र है, जहां सब प्रकार के अनुभव का सामंजस्य होता है।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन

सत्य क्या है? यह प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहा है। जो ध्रुव है, जो स्थिर है—वह सत्य है, पर वही सत्य नहीं है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। जो परिवर्तन है—वह सत्य है, पर वही सत्य नहीं है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नहीं। जो दृश्य है—वह सत्य है, पर वह भी सत्य है—जो दृश्य नहीं है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक-रूप अनेकरूपता का अंश रहकर ही सत्य है। उनसे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक द्वारा कृत नहीं है। वह सहज है, अकृत है। वह धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान महावीर ने कहा—'सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है।' सत्य एक ओर अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है—वह सत्य है। यह परम अभेददृष्टि है।

सत्य—अनंत शक्ति; असीम ऊर्जा

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

सत्य की खोज के मुख्य रूप से चार आयाम हैं। पहला आयाम है—श्वास। दूसरा आयाम है—शरीर। तीसरा आयाम है—मन, चित्त, बुद्धि। चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा। ये सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम हैं।

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

भंते! सत्य क्या है?

'वह बताया नहीं जा सकता।'

तो हम उसे कैसे जानें?

'तुम स्वयं उसे खोजो।'

उसकी खोज कैसे करें?

'कर्म को छोड़ दो। मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।'

भंते! फिर जीवन कैसे चलेगा?

'संयत कर्म करो। बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तो संयम से खाओ। सब-कुछ संयम से करो।'

भंते! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता?

'ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसीलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और वक्तव्य है। इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यक्-ज्ञान है।'

वक्तव्य सत्य

भंते! वक्तव्य सत्य क्या है?

'अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य हैं। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और

उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।'

हमारी मांग तो अनंत को जानने की है, संपूर्ण सत्य को जानने की है, अखंड सत्य को जानने की है। वह हमारी मांग पूरी नहीं होती। हमें जानने को मिलता है—थोड़ा-सा अंश, अनंत का एक खंड। हम उसको पकड़ कर, उस खंड को लेकर, अखंड के लिए लड़ने लग जाते हैं। यह लड़ाई कभी समाप्त नहीं होती। अच्छा तो यह होता कि कोई आदमी बोलता ही नहीं, कम-से-कम सत्य के बारे में कभी जबान नहीं खोलता, केवल व्यवहार की संपूर्ति के लिए बोलता तो लड़ाइयां नहीं होतीं। सत्य के विषय में न बोलना ही असत्य से बचने का अच्छा उपाय है। किंतु, ऐसा हो नहीं सकता। उन ज्ञानी पुरुषों ने भी अनुकंपा की, दया की कि अज्ञानी लोग पूरा न जान सकें तो कम-से-कम थोड़ा-बहुत जान लें। यह अनुकंपा भारी पड़ गई। इसने विवाद का रास्ता खोल दिया। आज यह स्थिति पैदा हो गई है कि आदमी सत्य को जाने-न-जाने, उसके लिए विवाद करने को तैयार है।

नहीं बोलने का एक बहुत बड़ा मूल्य है—सत्य की सुरक्षा। नहीं बोलने से सत्य की पूरी सुरक्षा होती है। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत—ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते हैं। एक कहता है—अस्ति, अर्थात् है। दूसरा कहता है—नास्ति, अर्थात् नहीं है। दोनों की दो दिशाएं हैं। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा—जो कहता है अस्ति, वह भी सही नहीं है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नहीं है। दोनों सही तब हो सकते हैं जब दोनों अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड़ देते हैं और कहते हैं कि इस दृष्टि से, इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नहीं है—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। जब स्यादस्ति कहने से भी काम नहीं चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी काम नहीं चलता, तब स्याद् अवक्तव्य कहना होता है। यह मानकर चलो कि सत्य कहा नहीं जा सकता, संपूर्ण सत्य कहा ही नहीं जा सकता। सत्य की प्रकृति ही ऐसी है, सत्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कहा नहीं जा सकता। हम जो कहते हैं वह सत्य का एक अंशमात्र होता है। हम अंशमात्र का कथन करके एक दृष्टि से पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय ही करते हैं। इस बात को मानकर ही कहें कि पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। यह गूंगे का गुड़ है। वह स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता।

मैं समझता हूं कि न बोलना, मौन रहना, सत्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है।

सत्य क्या है?

दृष्टि और प्रतिपादन दो प्रकार के होते हैं—यथार्थ और अयथार्थ। जो तथ्य जिस रूप में है, उसे उसी रूप में देखना और प्रतिपादन करना यथार्थ है और तथ्य के विपरीत दर्शन और प्रतिपादन अयथार्थ हो जाता है। सत्य का अर्थ है—यथार्थ का दर्शन और प्रतिपादन।

यथार्थ का दर्शन—यह दृष्टिकोण का सत्य है या सत्य का दृष्टिकोण है। यथार्थ का प्रतिपादन वाणी का सत्य है। सत्य का महाव्रत चरित्र का पक्ष है, व्यवहार का पक्ष है। सत्य का महाव्रती दूसरे को वही बात कहता है, जो यथार्थ होती है और यथार्थ ही अहिंसा धर्म के अनुकूल होती है।

सत्य का ऋजुता के साथ गहरा संबंध है। जो व्यक्ति ऋजु नहीं होता, वह सत्य का प्रतिपालन नहीं कर सकता। इस संदर्भ में सत्य का संदर्भ केवल वाणी से नहीं होता, किंतु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से हो जाता है। इस आधार पर सत्य की परिभाषा यह हो जाती है—

सत्य है—काया की ऋजुता	**असत्य है**—काया की वक्रता
सत्य है—वाणी की ऋजुता	**असत्य है**—वाणी की वक्रता
सत्य है—भाव की ऋजुता	**असत्य है**—भाव की वक्रता
सत्य है—संवादी प्रवृत्ति, कथनी-करनी की समानता।	**असत्य है**—विसंवादी प्रवृत्ति, कथनी-करनी की असमानता।

इन चारों अंगों का समग्रता से अनुशीलन करना ही सत्य का महाव्रत है। असत्य और मायाचार का निकट का संबंध है। जो कुशल मायावी नहीं होता, वह कुशल असत्यभाषी भी नहीं होता। सत्य में कोई छिपाव नहीं होता। असत्यभाषी को बहुत छिपाना पड़ता है। उसे एक बड़ा-सा मायाजाल बिछाना पड़ता है। इसीलिए भगवान महावीर ने असत्य के लिए **मायामृषा** शब्द का प्रयोग किया।

जिस प्रवृत्ति में माया है, दूसरों को ठगने की मनोवृत्ति है और असत्य है, यथार्थ को उलटने का प्रयत्न है—वहां हिंसा कैसे नहीं होगी? वह समूचा प्रयत्न हिंसा

का प्रयत्न है, इसलिए असत्य बोलना हिंसा से भिन्न वस्तु नहीं है।

सत्य को स्वयं खोजें

हमने सत्य की खोज प्रारंभ की है। मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है—सत्य की खोज। प्राणीजगत में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सत्य की खोज कर सकता है। दूसरे सारे प्राणी, फिर चाहे वे पशु-पक्षी हों या देवता, कोई भी सत्य की खोज नहीं कर सकता। मनुष्य के पास जितना विकसित मस्तिष्क, विकसित ग्रंथियां और अतींद्रिय ज्ञान के केंद्र हैं, उतने दूसरे किसी भी प्राणी के पास नहीं हैं। इसीलिए मनुष्य ही सत्य की खोज कर सकता है। मनुष्य-जीवन का सार है—सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि। भगवान महावीर ने कहा—**अप्पणा सच्च मेसेज्जा**—अपने-आप सत्य की खोज करो।

हम सत्य की खोज के लिए प्रस्तुत हैं। सत्य खोजना है और स्वयं को ही खोजना है। ऐसा नहीं होता कि एक व्यक्ति सत्य खोजे और दूसरा उपयोग करे। वैज्ञानिक जगत में यह होता है कि एक व्यक्ति सत्य को खोजता है और सारा जगत उसका उपयोग करता है। किंतु, अध्यात्म का संसार इससे भिन्न है। इस जगत में जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वही उसका उपयोग करता है। जो खोजेंगे, वे पाएंगे। जो नहीं खोजेंगे, वे कभी नहीं पाएंगे। जो खोजेंगे, वे ही उसका उपयोग करेंगे। जो नहीं खोजेंगे, वे उसका उपयोग भी नहीं कर पाएंगे।

ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा में प्रस्थान, सत्य को जीने का अभ्यास। सत्य को झुठलाने का प्रयत्न नहीं करना ध्यान की उपलब्धि है। ध्यान के अभ्यास से गुजरने के बाद भी यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं बना तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सधा नहीं। ध्यान से आध्यात्मिक निष्पत्ति आनी चाहिए, अध्यात्म फलित होना चाहिए।

ध्यान की निष्पत्ति है—सचाई का जीवन जीना। जब आदमी सचाई का जीवन नहीं जीता है तो बहुत व्यावहारिक समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है—*सच्चव्वतं उवसंपज्जामि*—सत्य का व्रत स्वीकार करता हूं। ध्यान का सारा प्रयोजन सत्य की खोज है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, वह सत्य की खोज की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। हमारे चारों ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य हैं, जिन्हें स्थूल दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उन्हें स्थूल मन से भी नहीं पकड़ा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नहीं बनते। उन्हें जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नहीं किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नहीं बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नहीं बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मल के आवरण जमे हुए हैं। वे जब तक नहीं टूटते तब तक चेतना में सूक्ष्मता नहीं आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारंभ करता है। वह सत्य को बाहर नहीं खोजता, अपने में ही खोजता है।

अध्यात्म के क्षेत्र में जो खोजें हुई हैं, अतींद्रिय ज्ञानियों ने जो खोजें की हैं, जो देखा है, पाया है, जो अनुभव किया है—उसको उन्होंने दूसरों को बतलाया। दूसरों ने सुना। लाभ उठाया। पर, पूरा लाभ नहीं मिला।

उस अभिव्यक्ति के माध्यम से जो सत्य की अनुभूति होनी चाहिए थी, वह किसी को नहीं हुई। वचन के माध्यम से प्राप्त वह सत्य श्रुति के काम आया, सुनने के काम आया तथा मस्तिष्क और बुद्धि के काम आया। किंतु, वह अनुभूतिगम्य नहीं बना। वह अनुभूतिगम्य तब बना, जब सुनने वालों ने स्वयं खोज प्रारंभ की, स्वयं उसको उपलब्ध हुए। उससे पहले कुछ भी नहीं हुआ। सुनना व्यर्थ नहीं गया। उससे खोज की पृष्ठभूमि तैयार हुई। वह पृष्ठभूमि तब तक पृष्ठभूमि ही बनी रहती है, जब तक उसको आधार बनाकर साधक आगे बढ़ नहीं सकता। साधक जब तक अनुभव के स्तर पर उस सत्य को नहीं पा लेता तब तक वह यह नहीं कह सकता कि 'यह सचाई है। इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।' वह तब तक दूसरों को दुहाई देता रहता है। यह उधारी की बात है, वह यह करता है। यह आगमों की सचाई, गीता या बाइबिल की सचाई है, गुरु ग्रंथसाहब या कुरान की सचाई, पिटक या अन्य धार्मिक शास्त्र की सचाई है। वह कभी नहीं कह सकता कि यह मेरी सचाई है। यह मेरा भोगा हुआ सत्य है। जब व्यक्ति उस सत्य को उपलब्ध

हो जाता है, उसे साक्षात कर लेता है, तभी वह कह सकता है—'यह मेरा सत्य है। मैंने इसे जाना-देखा है। मैंने इसे भोगा है।'

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सबको वैज्ञानिक होना पड़ता है। जो भी इस यात्रा-रथ पर चलना चाहता है, उसे वैज्ञानिक बनना ही पड़ता है। ऐसा नहीं होता कि कोई एक वैज्ञानिक बन जाए, सत्य की खोज करे और शेष सारे उसके अनुयायी बनकर उस खोजे हुए सत्य का उपयोग करते रहें। ऐसा नहीं हो सकता। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक बनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूंढ़ निकालना होता है।

'सत्य को खोजो'—इतना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान महावीर ने इसके पीछे **अप्पणा** शब्द लगाकर इस ओर संकेत किया कि सत्य को खोजो—यह अधूरी बात है। स्वयं सत्य को खोजो—यह पूरी बात है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण संकेत है। यह संकेत साधक के पुरुषार्थ की गाथा है।

दूसरा प्रश्न है कि हमने सत्य की खोज प्रारंभ की है, किंतु हमारे पास प्रयोगशाला कहां है? कैसे करेंगे सत्य की खोज? सत्य की खोज के लिए समृद्ध प्रयोगशाला चाहिए। वह यहां नहीं है। बात सच है, किंतु हमें अपने शरीर को ही प्रयोगशाला बना डालना है। यह शरीर इतनी बड़ी प्रयोगशाला है कि विश्व के किसी भी वैज्ञानिक के पास इतनी समृद्ध और विशाल प्रयोगशाला नहीं है। इस शरीर में इतनी सूक्ष्म तंत्र-संरचना है, जो बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी आश्चर्य में डाल देती है। एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला नहीं, किंतु यदि विश्व की समस्त प्रयोगशालाओं को एकत्रित कर लिया जाए, फिर भी वे इस शरीर की प्रयोगशाला के अल्पतम हिस्से में नहीं समा पातीं। तुलना ही नहीं की जा सकती।

यह हमारा शरीर साधन-संपन्न प्रयोगशाला है। यह हमारे सामने है। हमें सत्य की खोज करनी है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास हैं। चैतन्य के ये सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उपकरण हैं। आज सूक्ष्म तरंगों वाले या सूक्ष्म शक्ति वाले या 'हाईफ्रिक्वेन्सी' वाले जितने भी सूक्ष्म उपकरण होते हैं—वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में—वे सारे-के-सारे या उनसे भी अधिक सूक्ष्म उपकरण हमारे इस शरीर में उपलब्ध हैं। वे स्वतः संचालित हैं। किंतु, उनको काम में न लेने के कारण उन पर जंग जम गया है, वे निष्क्रिय हो गए हैं। हमने यात्रा प्रारंभ की है। हम उस जंग को हटाने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे ही वह जमा हुआ मैल हटेगा, ये सारे उपकरण पूरा काम देने लग जाएंगे। इन्हीं उपकरणों के द्वारा हम सूक्ष्मतम सत्य को पहचान जाएंगे।

समस्या है सत्य की अनभिज्ञता

इस दुनिया में सबसे बड़ी समस्या है सत्य को जानना। हमारी सारी कठिनाइयों और समस्याओं का मूल है सत्य को न जानना। आदमी यदि सत्य को जान लेता तो कोई समस्या नहीं होती। दुनिया में वस्तुतः कोई समस्या है ही नहीं। केवल सत्य की अनभिज्ञता ही समस्या है।

प्रकाश और अंधकार—दोनों विरोधी युगल हैं, किंतु इनमें नितांत विरोध नहीं है। दोनों एक साथ आ जाते हैं। सह-अस्तित्व और सह-अवस्थान—दोनों ही जरूरी हैं। स्याद्वाद विरोधी तत्त्वों की व्याख्या करता है। दो विरोधी तत्त्वों को, विरोधी बातों को एक साथ स्वीकारना ही स्याद्वाद और अनेकांत है। अनेकांत और स्याद्वाद का फलित है—सह-अस्तित्व।

सत्य विशाल है और शब्द सीमित। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए शब्द होते हैं। परंतु, वे उसको सीमित बना देते हैं। यही कारण है कि जो शास्त्र समाधान के लिए होते हैं, वे स्वयं समस्या बन जाते हैं।

यदि सत्य के निकट पहुंच जाएं तो विरोधी हितों में सामंजस्य हो सकता है। यदि आज समाज में नए मूल्यों का सामंजस्य किया जा सके तो समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। आचार्य तुलसी सामंजस्य की बात करते हैं। सबसे पहले सत्य और अध्यात्म की बात करते हैं।

मनुष्य में यदि सत्य की जिज्ञासा और निष्ठा नहीं है तो वह अच्छा भी नहीं बन सकता। प्रगति और विकास का द्वार बंद ही रहेगा। इसलिए सबसे पहले सत्य को पहचानें और फिर उसे स्वीकार करें। मन के आवरणों को हटाकर, मैला, कूड़ा-कर्कट निकालकर स्वच्छता स्वीकार करें और दृष्टि-लाभ कर ज्ञान को परिष्कृत करें। ज्ञान, दर्शन और चरित्र की समन्विति तभी होगी जब हम दृष्टि साफ रखेंगे। इसके लिए सत्य की प्रबल जिज्ञासा होनी चाहिए। आंतरिक तड़प और जिज्ञासा के बिना मनुष्य जहां का तहां रहेगा।

सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है? यह प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहा है। जो ध्रुव है, जो स्थिर है—वह सत्य है, पर वही सत्य नहीं है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। जो परिवर्तन है—वह सत्य है, पर वही सत्य नहीं है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नहीं। जो दृश्य है—वह सत्य है, पर वह भी सत्य है—जो दृश्य नहीं है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक-रूप अनेकरूपता का अंश रहकर ही सत्य है। उनसे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक द्वारा कृत नहीं है। वह सहज है, अकृत है। वह धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान महावीर ने कहा—'सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है।' सत्य एक ओर अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है—वह सत्य है। यह परम अभेददृष्टि है। इस जगत में चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वयं सत्य है। फिर भी उसका चेतन से सीधा संपर्क नहीं है और इसलिए नहीं है कि राग एवं द्वेष उसका सत्य से सीधा संपर्क होने में बाधा डाले हुए हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत नहीं होता। द्वेष-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसी के सामने अनावृत होता है, जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है, जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नहीं होते।

सत्य के दो रूप : अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान महावीर वीतराग थे। सत्य से उनका सीधा संपर्क था। उन्होंने जो कहा, वह सुना-सुनाया या पढ़ा-पढ़ाया नहीं कहा। उन्होंने जो कहा, वह सत्य से संपर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्घाटन और आत्मानुभूति का ऋजु उद्बोधन है। जो सत्य है, वह अनुपयोगी नहीं है, पर उसके कुछ अंश विशेष उपयोगी होते हैं। हम परिवर्तनशील संसार में रहने वाले हैं। अतः कोरे अस्तित्ववादी ही नहीं, किंतु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नहीं मानते, किंतु यथार्थ की उपलब्धि को सत्य मानते हैं।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा, परमात्मा है—ये दोनों अस्तित्ववादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण हैं। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है, वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—'आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है।' उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—'आत्मा ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है।' पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा अद्वैतवादी। भगवान महावीर अखंड सत्य को अनंत दृष्टिकोणों से देखने का संदेश देते थे। अनेकांत-दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था जितना कि द्वैत और एकांत दृष्टि से द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत, दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

सत्य के विघ्न

सत्य आत्मा से बाहर नहीं है। वह हमें पाना नहीं है, किंतु प्राप्त है। उसके अभिव्यक्त होने में जो विघ्न हैं, उन्हें दूर करना है। सत्य की दूरी विघ्न के कारण प्रतीत होती है। विघ्न नष्ट हो जाने पर सत्य में और हम में कोई द्वैत नहीं रहता।

सम्यक् दर्शन का पहला विघ्न है—आशंका। अशंकनीय तत्त्व के प्रति शंका का उत्पन्न होना सत्य के साथ आंख-मिचौनी खेलने जैसा है। बहुत-सारे लोग अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित होते हैं, जबकि वह शंकनीय नहीं है। इस दुनिया में जो पहले नहीं है और पीछे नहीं है, वह मध्य में भी नहीं हो सकता—**जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया।**

एक परमाणु भी जब अपना अस्तित्व नहीं खोता, तब चेतना अपना अस्तित्व कैसे खोए?

आत्मा की भांति सत्य के जितने रूप और पर्याय हैं, सब सम्यक् दर्शन के विषय हैं। उनके प्रति आकांक्षा का होना सम्यक् दर्शन का बहुत बड़ा विघ्न है।

जिस व्यक्ति के मन में सत्य तक पहुंचने की भावना होती है, वही उस तक पहुंच पाता है। दूसरी-दूसरी आकांक्षाओं को लेकर चलने वाला सत्य तक नहीं पहुंच सकता। आकांक्षा सत्य की दिशा में जा ही नहीं सकती। उसे लेकर कोई सत्य की दिशा में चलना चाहता है, उसके पैर भी ठिठक जाते हैं। यह सम्यक् दर्शन का दूसरा विघ्न है।

सत्य एक लक्ष्य है। उस तक पहुंचने के लिए अवस्थित अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। अनवस्थित अध्यवसाय वाला व्यक्ति एक दिशा में चल नहीं सकता। वह दिशा को बदलता है, इसलिए सत्य उसके हाथ नहीं लगता। चित्त की ऊर्जा एक दिशा में प्रवाहित होती है, तब वह लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाती है। चारों दिशाओं में छितरी हुई धारा कभी प्रवाह नहीं बन पाती और प्रवाह बने बिना कोई भी धारा कभी भी समुद्र तक नहीं पहुंच पाती। सत्य के समुद्र तक पहुंचने में चित्त की विचिकित्सा (अनवस्थितता) तीसरा विघ्न है।

सत्य की दिशा में यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत महत्त्व का प्रश्न है कि वह किसे समर्थन दे रहा है? सत्य की दिशा में चलने वाला यात्री यदि असत्य की दिशा में जाने वालों का समर्थन करता है, उनके साथ अपने संपर्क को पुष्ट करता है तो उसकी दिशा भी उलट जाती है। इसलिए इस विषय में उसे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता होती है। यह विघ्न पहले के विघ्नों से भी अधिक भयंकर है। असत्य दिशागामी व्यक्तियों का समर्थन और संपर्क सम्यक् दर्शन का क्रमशः चौथा और पांचवां विघ्न है।

निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है

यह निर्ग्रंथ प्रवचन—**इणमेव निग्गंथं पाययणं सच्चं** सत्य है। हर संप्रदाय यही कहता है कि हमारा मत सत्य है। अपने-अपने मत की सचाई की दुहाई देने के कारण ही असत्य को बढ़ावा मिलता है। भगवान महावीर ने कहा था कि अनेकांत सत्य है, एकांत सत्य नहीं है। जो समग्र है, सर्वांगीण है—वह सत्य है। फिर भी सूत्रकार ने यह कैसे कहा कि निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है?

असत्य का हेतु है—ग्रंथि। जिसके मन में कोई ग्रंथि नहीं होती, उलझन नहीं होती, वह निर्ग्रंथ होता है। असत्य का आग्रह सबसे बड़ी ग्रंथि, सबसे बड़ी उलझन और सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। जिसके मन की यह गांठ खुल जाती है, वह सत्य की सीमा में प्रवेश पा जाता है।

निर्ग्रंथ प्रवचन में किसी मत का आग्रह नहीं है, एकांगी दृष्टि का स्वीकार या निरूपण नहीं है। उसमें केवल सत्याग्रही दृष्टि का प्रतिपादन है, इसलिए निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है। इसका अर्थ होता है कि अनेकांत ही सत्य है, या अनेकांत द्वारा दृष्टि-तत्त्व ही सत्य है।

निर्ग्रंथ ऋजुता या अनाग्रह का प्रतीक है। राग-द्वेष, क्रोध, अभिमान आदि कारणों से व्यक्ति असत्य का स्वीकार या निरूपण तथा असत् का आग्रह करता है। अज्ञानी आदमी भी यह सब-कुछ करता है। निर्ग्रंथ, ज्ञान और वीतरागता—दोनों की उपासना करता है। ज्ञानी और वीतराग का दृष्टिकोण सत्याग्रही होता है। इसलिए उनकी अनुभूति को—निर्ग्रंथ प्रवचन को—सत्य मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

जैन दर्शन ने सत्य को किसी व्यक्ति-विशेष या परंपरा-विशेष के साथ नहीं जोड़ा है, किंतु उसे गुणात्मक स्थिति के साथ जोड़ा है। निर्ग्रंथ कोई व्यक्ति या परंपरा नहीं है। वह एक गुणात्मक अवस्था या स्थिति है। इस दृष्टि से भी निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य है और यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं है कि निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है।

सत्य का अणुव्रत

कुछ विचारकों का अभिमत है कि सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता। उसे टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, इसलिए अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है। किंतु, असत्य जीवन की अनिवार्यता नहीं है, अतः सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता।

महाव्रत और अणुव्रत का विभाग केवल अनिवार्यता के आधार पर ही नहीं होता, प्रमाद भी उनके विभाजन का मुख्य हेतु है। हर आदमी के लिए यह संभव नहीं कि वह सतत जागरूक रहे। जो सतत जागरूक नहीं रहता, वह पूर्णतः सत्यवादी नहीं हो सकता। जहां प्रमाद आता है, वहां असत्य आ ही जाता है। आदमी मजाक में झूठ बोल लेता है। वह झूठ बोलने के उद्देश्य से झूठ नहीं है, फिर भी झूठ तो है ही।

असत्य बोलने का दूसरा हेतु है अशक्यता। हर व्यक्ति में एक साथ इतनी क्षमता विकसित नहीं होती कि वह एक चरण में असत्य बोलना छोड़ दे। जिनमें इस प्रकार की क्षमता विकसित नहीं होती, वे असत्य-परिहार का क्रमिक अभ्यास करते हैं। पहले अमुक-अमुक प्रकार का असत्य बोलना छोड़ते हैं, फिर उससे सूक्ष्म असत्य बोलना छोड़ते हैं, फिर सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वे पूर्णतः सत्यवादी हो जाते हैं। यह क्रमिक अभ्यास की प्रक्रिया ही अणुव्रत है। यह प्रमाद से अप्रमाद की ओर जाने का उपक्रम है। यह

अशक्यता से शक्यता को विकसित करने का उपक्रम है। वास्तव में यह सत्य का विभाजन नहीं, किंतु उसका क्रमिक विकास और अभ्यास है।

सत्य का व्रत लेने वाला संपूर्ण सत्य का व्रत ले, यही इष्ट है। किंतु, जो ऐसा न कर सके वह कम-से-कम संकल्पपूर्वक असत्य बोलना अवश्य छोड़े। फिर धीमे-धीमे प्रमाद और अशक्यताजनित असत्य बोलना भी छोड़े। इस प्रकार असत्य से सत्य की ओर गति सुलभ हो जाती है।

सत्य और ऋजुता—दोनों साथ-साथ चलते हैं। ऋजुता का विकास हुए बिना सत्य का विकास नहीं हो सकता। मानसिक ऋजुता संकल्प मात्र से एक ही क्षण में प्राप्त होने जैसी वस्तु नहीं है। उसकी क्रमिक साधना है और वह दीर्घकालीन है। उसकी साधना ही वास्तव में सत्य की साधना हो, इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर ही भगवान महावीर ने सत्य के अणुव्रत का प्रतिपादन किया।

वाक्शुद्धि का उपाय : सत्य

वाक्शुद्धि का उपाय है—सत्य का आलंबन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरंगों को भी समझ लिया, किंतु उनके पीछे भावना का जो बल है—वह यदि असत् है, असत्य है, तो सब-कुछ बिगड़ जाएगा। यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें, तो प्रतीत होगा कि उनके मूल में असत्य का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए सारी समस्याएं जटिल होती जा रही हैं। असत्य के बिना समाज का व्यवहार ही नहीं चल सकता। कूटनीति के आधार पर सारी राजनीति चलती है और कूटनीति का आधार है—असत्य। समाज का छोटे-से-छोटा व्यवहार और बड़े-से-बड़ा व्यवहार असत्य के आधार पर चलता है। एक आदमी झूठ बोलता है, बच जाता है, सत्य बोलता है, मारा जाता है।

जज ने अपराधी से कहा—'तुम न्यायालय में खड़े हो। सच-सच कहना, झूठ मत कहना। अच्छा बताओ, झूठ बोलने से कहां जाओगे और सच बोलने से कहां जाओगे?'

'जज साहब! जानता हूं, झूठ बोलने से नरक में जाऊंगा और सत्य बोलने से जेल में जाऊंगा।'

आज प्रत्येक आदमी के मन में यह आस्था बैठ गई है कि समाज में सच बोलने का अर्थ है, आपदाओं को निमंत्रण देना, कठिनाइयों में फंसना। जो झूठ बोलने में माहिर होता है, वह बड़े-से-बड़ा अपराध करके भी बच जाता है। जो व्यक्ति वाक्चतुर होता है, झूठ को छिपाना जानता है, वह सफल हो जाता है। जो सच बोलता है वह बुद्धू होता है, पागल होता है, मूर्ख होता है—यह आज की आस्था है। इसी आस्था के कारण सारा व्यवहार गड़बड़ा गया है।

भगवान महावीर ने सत्य का सुंदर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सत्य वहीं है जहां काया की सरलता है, भावों की सरलता है, वाणी की सरलता है और अविसंवादिता है। अविसंवादिता का अर्थ है—विसंगतियों से परे हो जाना। एक दिन एक बात कहना और दूसरे दिन दूसरी बात कहना—यह विसंवाद है। सत्य वह होता है, जो अविसंवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो बात कही, वही बात पचीस वर्ष बाद कहेगा। वाणी में विसंवादिता नहीं होगी। किंतु, आज भाव भी टेढ़ा है, वचन भी टेढ़ा है और जीवन के पग-पग पर विसंवादिता है। इस स्थिति में वाणी की शक्ति कैसे प्राप्त हो? वाक्शुद्धि कैसे हो? जिस व्यक्ति की वाक्शुद्धि हो जाती है, उसके मुंह से निकली हुई बात को होना ही पड़ता है। वह कथन अन्यथा नहीं होता। वचनसिद्धि का सबसे बड़ा साधन है—सत्य। जो सत्यवादी होता है उसके कथन को कोई बदल नहीं सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। उसकी वाणी-तरंगों में, परमाणुओं में इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पड़ता है। एक व्यक्ति में सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है।

सत्य की शक्ति असीम है। जिन लोगों ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी है, वे विलंब से भले ही हो, आगे बढ़े हैं। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। प्रश्न है मूल निष्ठा का। वह बनती ही नहीं, बनने से पहले ही मर जाती है। यदि वास्तव में सत्य का प्रयोग हो तो वाणी में भी अपार शक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है। ❖

वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए एक ऐसी व्यूहरचना की आवश्यकता है जिससे कि अल्पकालिक के साथ-साथ दीर्घकालिक लाभ भी हों। अतः आज की वैश्वीकरण की समस्याओं का समाधान शांति का अर्थशास्त्र व उसकी कार्यान्विति ही है। पूंजीवाद व समाजवादी मानदंडों का एकमात्र आधार भौतिकवाद रहा है, जहां साधन-शुद्धि का विचार समाप्त हो जाता है। वैश्वीकरण के इस युग में विकास के मानदंड अधिकतम आवश्यकता, अधिकतम उत्पादन व अधिकतम उपभोग को माना जाता है, जो कि एक जटिल समस्या उत्पन्न करने वाली अवधारणा है। इसका मानव-कल्याण से कोई संबंध नहीं है। व्यसन, थकान, तनाव, मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता, यांत्रिक-जीवन, मद्यपान, अपराध आदि की बेतहाशा वृद्धि वर्तमान विकास की कटु अवधारणा है। इस भौतिक अवधारणा व व्यवस्था का विकल्प अहिंसक व्यवस्था से ही संभव है।

वैश्वीकरण—मानवीय नहीं; निर्मोही

वंदना कुंडलिया

मानव-इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक युग के विचारकों ने अपने-अपने समय की आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करने, उनके मूल कारणों का पता लगाने और उन्हें सुलझाने के प्रयास में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। प्राचीन समय में आर्थिक विचारों का अध्ययन पृथक से नहीं किया जाता था। यह अध्ययन धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और राजनीति-शास्त्र आदि के अंतर्गत ही किया जाता रहा है। प्रारंभ में केवल जीवनयापन एवं आवश्यक जरूरतों की पूर्ति तक ही सब-कुछ सीमित था। उस समय न तो अपरिमित आवश्यकताएं थीं और न उन्हें पूरा करने के लिए अवांछनीय प्रयास किए जाते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की प्रारंभिक आर्थिक क्रियाएं मानवीय मूल्यों पर आधारित थीं। कालांतर में पूंजीवादी विकास मॉडल से लेकर साम्यवादी अर्थव्यवस्था एवं वर्तमान वैश्वीकरण के युग के आने तक आवश्यकताएं व महत्त्वाकांक्षाएं भी बढ़ीं। उनकी पूर्ति के लिए आर्थिक जगत ने धीरे-धीरे मूल्यपरक सिद्धांतों को छोड़ना भी शुरू कर दिया। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, साधनों की सीमितता भी होती गई। लगातार बढ़ती अनंत आवश्यकताओं को सीमित साधनों से पूरा करने के लिए वांछनीय व अवांछनीय क्रियाएं होनी शुरू हो गईं। येन-केन-प्रकारेण आवश्यकता आपूर्ति में समूचा विश्व संलग्न हो गया। फलतः मूल्यों का ह्रास होने लगा। आर्थिक जगत में न्यूनतम संतुष्टि और मानवीय कल्याण के स्थान पर असंतोष, गलाकाट प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। आर्थिक समृद्धि की होड़ में अशांति, तनाव व हिंसा बढ़ने लगे। फलतः आर्थिक समृद्धि ने आर्थिक विकृतियों, मानवीय मूल्यों के ह्रास, पर्यावरण असंतुलन जैसी विनाशकारी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। मानवीय मूल्यों व मानवीय कल्याण में आस्था रखने वाले विचारकों को इन विषमताओं ने इस ओर चिंतन के लिए प्रेरित किया। पिछली शताब्दी से ही आर्थिक क्रियाओं में मूल्यों की स्थापना, शुद्धिकरण व अहिंसात्मक आर्थिक क्रियाओं की वकालत शुरू हो गई। कई प्रबुद्ध समाजशास्त्रियों, सुधारकों, उपदेशकों व धर्मगुरुओं ने

श्री और समृद्धि का प्रकाश पर्व
दीपावली मंगलमय हो
अवसर विशेष पर यह लेख

आर्थिक जगत हेतु केवल अहिंसात्मक विचार ही प्रदान नहीं किए, वरन उनका सफल प्रयोग भी शुरू किया। कतिपय अर्थशास्त्रियों ने भी इस बात को स्वीकारते हुए आवश्यकता के अल्पीकरण, धन के समान वितरण, लाभ के सीमाकरण, अपरिग्रह व संयम आदि पर जोर देकर शांति के अर्थशास्त्र की वकालत की। वैश्वीकरण के वर्तमान युग में शांति का अर्थशास्त्र एक समाधान के रूप में प्रस्तुत हुआ।

वैश्वीकरण और शांति के अर्थशास्त्र के अंतर्संबंध व अंतर्निर्भरता को जानने से पहले वैश्वीकरण और शांति के अर्थशास्त्र का सामान्य परिचय जानना समीचीन होगा।

वैश्वीकरण

वैश्वीकरण एक रोमांचक शब्द है जो यह बताता है कि विश्व में निम्नोक्त चार बातें होनी चाहिए—(1) वस्तुओं का बेरोक-टोक आदान-प्रदान, (2) पूंजी का स्वतंत्र प्रवाह, (3) तकनीक का निर्बाध प्रवाह एवं (4) श्रम का निर्बाध प्रवाह।

वैश्वीकरण का अर्थ हो गया है—वस्तुओं, पूंजी, तकनीक एवं श्रम का विश्व में निर्बाध प्रवाह। अर्थात् इन चार के आवागमन पर कोई भी राष्ट्र किसी भी तरह का कोई प्रतिबंध न लगाए। वैश्वीकरण का लक्ष्य समस्त विश्व को एक विश्व-ग्राम (ग्लोबल विलेज) के रूप में परिकल्पित करना है, जिसमें किसी तरह का कोई बंधन नहीं हो। वैश्वीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं पर भौगोलिक प्रतिबंध समाप्त होते हैं और जिससे लोगों में यह सतत जागरूकता बढ़ती है कि वे भौगोलिक प्रतिबंधों से पीछे हट रहे हैं। अर्थात् विनिमय व संचार में भौतिक दूरी व बाधाएं महत्त्वहीन हो जाती हैं। लोग अब यह जानने भी लगे हैं कि ऐसा हो रहा है। वे यह जानते हैं कि व्यक्ति और वस्तुएं अतीत की अपेक्षा बिना विलंब के पूरे विश्व में बहुत तेजी से पहुंचाई जा रही हैं और उनकी प्रतिध्वनि या उनकी प्रतिकृतियां कुछ ही पलों में पूरे विश्व में पहुंच जाती हैं। डेविड हार्वे के शब्दों में—समय और क्षेत्र सिकुड़ जाते हैं। एंथोनी गिडन्स ने वैश्वीकरण के तीन प्रमुख पक्षों की चर्चा की है—**समय व क्षेत्र का अलगाव**—आधुनिक संचार साधनों के द्वारा समय व क्षेत्र—दोनों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग देखा जा सकता है। इसे हम समय व क्षेत्र को सिकुड़ने के रूप में भी देख सकते हैं। **संबंधों की व्यापकता**—सामाजिक संबंध स्थानीय संदर्भों से हटकर वैश्विक स्तर के संदर्भ तक व्यापक हुए हैं। संबंधों की यह व्यापकता आर्थिक विनिमय के आधार पर व विशेषज्ञता पर आधारित संबंधों पर हुई है। आज इनसे जुड़े सिद्धांत वैश्विक ज्ञान के आधार पर निर्धारित होते हैं। **प्रतिबिंबता**—यह सिद्धांत आधुनिक समाज के विशेषज्ञ तंत्र और समाज के बदलते स्वरूप के प्रति जागरूक व उत्तरदाई बनाने के लिए जरूरी है। आधुनिक व्यक्ति व समाज—दोनों ही एक-दूसरे को प्रतिबिंबित करते हैं, अर्थात् इनकी एक-दूसरे के प्रति निरंतर समायोजन की प्रवृत्ति होती है।

समकालीन आर्थिक वैश्वीकरण में उत्पादन, उत्पाद व उपभोग के वैश्वीकरण के साथ ही वित्तीय बाजार का भी वैश्वीकरण हो जाता है। उत्पादन व उपभोग का वैश्वीकरण एक ही उत्पाद के लिए पूरे वैश्विक बाजार का निर्माण करता है। वित्तीय बाजार के वैश्वीकरण से बैंकों व 'स्टॉक हाउसेस' की अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहुतायत हो जाती है। इससे बाजार में वित्त की कमी नहीं रहती। वैश्वीकरण के कारण उत्पादन व उपभोग बढ़ा है। तकनीकी व प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय सहयोग, भुगतान संतुलन, विनियोग, बचत व उन्नत जीवन स्तर आदि क्षेत्रों में वृद्धि अप्रत्याशित रूप से हुई है।

वैश्वीकरण के उपरोक्त सकारात्मक पक्ष के साथ-साथ यदि दूसरे पक्ष पर विचार किया जाए तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैश्वीकरण के तथाकथित विकास का कोई मानवीय चेहरा नहीं है। इसने निर्मोही विकास को बढ़ावा दिया है और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को नष्ट किया है। कृषि-क्षेत्र में निवेश निरंतर घट रहा है। देश में 'बार' व 'रेस्तरां' संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैश्वीकरण के इस एक दशक ने 'पीजा' और 'कोला' का अप संस्कृतिभरा तोहफा दिया है। 'टी.वी. चैनलों' का विस्तार हुआ है, जो भारतीय संस्कृति को निरंतर विकृत करता जा रहा है। विज्ञापनों के माध्यम से अनुपयोगी वस्तुओं की मांग बढ़ाई जा रही है। युवा पीढ़ी को दैहिक प्रदर्शन के बतौर सौंदर्य प्रतियोगिताओं के द्वारा बर्बाद किया जा रहा है। विदेशों की तरह डिब्बाबंद बासी खाना व 'फास्टफूड' धड़ल्ले से बेचा जा रहा है।

वैश्वीकरण के कारण आज पूरा विश्व एक बाजार

हो गया है। आर्थिक रूप से संपन्न व समृद्ध राष्ट्र अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अधिकाधिक उत्पादन पर जोर दे रहे हैं। इससे उपभोक्तावाद अपनी जड़ें निरंतर जमाता जा रहा है। हिंसा के आधार पर आर्थिक क्रियाएं—चाहे जीव-हत्या के माध्यम से उत्पादित किया गया कोई सौंदर्य प्रसाधन हो या विध्वंस या विनाश के लिए सामरिक वस्तु का उत्पादन—धड़ल्ले से बढ़ती जा रही हैं। आर्थिक क्रियाओं के द्वारा मानव-कल्याण की जगह मानव समुदाय ने अपने ही विनाश के ताने-बाने बुन लिए हैं। जिससे—

(क) आर्थिक जगत में कड़ी प्रतिस्पर्धा के कारण हर बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती जा रही है। अविकसित व छोटे राष्ट्र पूर्णतया विकसित व समृद्ध राष्ट्रों पर निर्भर हो गए हैं, जिससे उनकी सार्वभौमिकता का खतरा उत्पन्न हो गया है।

(ख) धन के असमान वितरण के कारण अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं।

(ग) लाभ की सीमा का निर्धारण न होने से एक वर्ग शोषित हो रहा है। दूसरा वर्ग अत्यधिक समृद्ध भी होता जा रहा है।

(घ) अति-उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय मूल्यों पर प्रहार किया है, जिससे असंतुष्टि बढ़ी है।

(ड़) प्रकृति को दरकिनार कर विकास के ताने-बाने बुने गए हैं, जिससे प्राकृतिक असंतुलन व पर्यावरण प्रदूषण की समस्याएं बढ़ी हैं।

उपरोक्त समस्याओं ने केवल मानव-अस्तित्व पर ही खतरा पैदा नहीं किया, वरन संपूर्ण प्रकृति के विनाश का कारण भी ये बनी हैं। एक ओर जहां आर्थिक विकास की अंतहीन सीमाओं ने मानवीय मूल्यों पर कुठाराघात किया है, वहीं दूसरी ओर संसार के सभी जीवों के अस्तित्व पर भी खतरा पैदा हो गया है। एक जीव के अस्तित्व के लिए दूसरे जीव का अस्तित्व जरूरी है, पर आर्थिक समृद्धि के उन्माद में मानव ने प्रकृति से खिलवाड़ करना शुरू कर दिया है और हिंसा व क्रूरता ने प्राकृतिक असंतुलन को बढ़ावा दिया है। विनाश की ओर बढ़ता हुआ यह एक खतरनाक कदम है।

इसी के चलते कतिपय अर्थशास्त्रियों, समाज-शास्त्रियों व शिखर अध्यात्म-पुरुषों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। तेजी से बढ़ते तथाकथित विकास से उत्पन्न दुष्परिणामों के कारणों का विश्लेषण किया जाने लगा है। इससे आर्थिक जगत में एक नई विचारधारा का जन्म हुआ है, जिसे हम अहिंसा या शांति का अर्थशास्त्र कह सकते हैं।

शांति का अर्थशास्त्र

आर्थिक जगत में मूल्यों की स्थापना का एक प्रयास है—शांति का अर्थशास्त्र। सामान्य रूप से अर्थशास्त्र के प्रचलित सिद्धांत, वर्तमान आर्थिक विचार, आर्थिक क्रिया-प्रक्रियाएं—सभी-कुछ हिंसा व अहिंसा से परे, बिना किसी आदर्श को अपनाए आर्थिक उच्चावचन व आर्थिक समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है व समाधान प्रस्तुत करता है। उसका आदर्श या अध्यात्म से किसी भी तरह का संबंध नहीं है। लेकिन, जब हम आर्थिक सिद्धांतों की गहराई में जाते हैं, उन सिद्धांतों को स्थापित करने के उद्देश्यों को समझते हैं और साथ ही मानव-जगत के लिए आर्थिक क्रिया की अनिवार्यता, महत्ता व उससे प्राप्त संतुष्टि व कल्याण के मूल विचारों पर जाते हैं तो लगता है कि अहिंसा, शांति के विचार और आर्थिक सिद्धांतों में परस्पर अंतर्निर्भरता है। अहिंसा के सिद्धांत को नजरअंदाज कर हम आर्थिक कल्याण के सही स्वरूप को प्राप्त ही नहीं कर सकते हैं।

अधिक मांग, अधिक उत्पादन, अधिक आय तथा अंतहीन आर्थिक विकास के कारण मानव-कल्याण की बनिस्बत असंतोष को प्रश्रय मिला है। इसके विपरीत आर्थिक विकास के इन सिद्धांतों के विरुद्ध शांति का अर्थशास्त्र अपनी मानवीय मान्यताएं स्थापित करता है।

शांति का अर्थशास्त्र संयम-अल्पेक्षा, आवश्यकतानुसार उत्पादन व आय की सीमा, धन का समान वितरण, समाज के सभी वर्गों में समानता, मानव-समुदाय में सुख व आनंद का प्रादुर्भाव, वास्तविक मानव-कल्याण व पूर्ण वास्तविक संतुष्टि जैसी मान्यताओं पर आधारित है। शांति का अर्थशास्त्र मानव के वास्तविक कल्याण व वास्तविक संतुष्टि से सच्चे सुख की उपलब्धि के लिए आर्थिक क्रियाओं का संस्थापन है। शांति का अर्थशास्त्र इस सिद्धांत को लेकर चलता है कि संयम से ही वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है। संयम ही अल्पेक्षा को उत्पन्न करता है। अल्पेक्षा से आवश्यकता का अल्पीकरण होता है, जिससे बाजार में मांग संयमित व मर्यादित रहती है। बाजार की मांग

के अनुरूप अहिंसात्मक प्रक्रियाओं के आधार पर नियंत्रित व वांछित उत्पादन किया जाता है। उत्पादन का आकार संयमित होने के कारण अत्यधिक लाभ व आय की संभावना नहीं रहती है। साथ ही उत्पादन क्रिया में अहिंसा के सिद्धांत लागू होने से शोषण भी नहीं रहता है। फलस्वरूप उत्पादन के साधनों को उनके योगदान के अनुरूप आय का हिस्सा दे दिया जाता है। आय के समान वितरण से अमीर-गरीब की खाई मिट जाती है। शांति के अर्थशास्त्र के बल पर उपभोक्ता संस्कृति चूंकि संयम-आधारित होती है, अतः कम उपभोग में अत्यधिक आनंद व सुख मिलता है।

शांति का अर्थशास्त्र संयम व अपरिग्रह जैसे आधारभूत सिद्धांतों का वह शास्त्र है, जिसमें समस्त आर्थिक क्रियाएं—यथा उत्पादन, उपभोग, विनिमय व वितरण—सभी को अहिंसा के मूलभूत सिद्धांतों के आधार पर संचालित किया जाता है। इससे मानव वास्तविक सुख व संतुष्टि प्राप्त कर वास्तविक कल्याण को प्राप्त कर सकता है।

वर्तमान आर्थिक समस्याओं के निराकरण में 'शांति के अर्थशास्त्र' की महत्ता को देखते हुए प्रो. जे.के. मेहता (इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के विभागाध्यक्ष) जैसे अर्थशास्त्री, गांधी जैसे प्रयोगकर्ता, आचार्यश्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे धर्मगुरुओं ने इस ओर काफी काम किया है और शांति के अर्थशास्त्र के क्रियान्वयन पर जोर दिया है। चाहे जे.के. मेहता का आवश्यकता का अल्पीकरण का सिद्धांत हो या गांधी का अहिंसात्मक आर्थिक क्रियाओं पर बल हो, या आचार्यश्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का संयम का सिद्धांत हो—ये सभी शांति के अर्थशास्त्र के विकास-क्रम में सहभागी हैं।

वैश्वीकरण और शांति का अर्थशास्त्र

वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए एक ऐसी व्यूहरचना की आवश्यकता है जिससे कि अल्पकालिक के साथ-साथ दीर्घकालिक लाभ भी हों। अतः आज की वैश्वीकरण की समस्याओं का समाधान शांति का अर्थशास्त्र व उसकी कार्यान्विति ही है। पूंजीवाद व समाजवादी मानदंडों का एकमात्र आधार भौतिकवाद रहा है, जहां साधन-शुद्धि का विचार समाप्त हो जाता है। वैश्वीकरण के इस युग में विकास के मानदंड अधिकतम आवश्यकता, अधिकतम उत्पादन व अधिकतम उपभोग को माना जाता है, जो कि एक जटिल समस्या उत्पन्न करने वाली अवधारणा है। इसका मानव-कल्याण से कोई संबंध नहीं है। व्यसन, थकान, तनाव, मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता, यांत्रिक-जीवन, मद्यपान, अपराध आदि की बेतहाशा वृद्धि वर्तमान विकास की कटु अवधारणा है। इस भौतिक अवधारणा व व्यवस्था का विकल्प अहिंसक व्यवस्था से ही संभव है। इस व्यवस्था में साधन-शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन जैसी बातें निहित हैं। विलासिता की सामग्री के उत्पादन व आयात पर रोक की व्यवस्था का व्यक्ति व सरकार—दोनों द्वारा ईमानदारी के साथ पालन करना भी इसी नीति का अंग है। इसी के साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिंसक वर्ग-संघर्ष व स्वदेशी को आवश्यक स्थान दिया जाना जरूरी है। अहिंसक समाज में अनिवार्य आवश्यकता की सामग्रियों का उत्पादन ही मान्य हो सकता है, अनावश्यक पदार्थों—यथा मादक पदार्थ, शृंगार की सामग्री—जिनका उत्पादन क्रूरता के सहारे होता है—मान्य नहीं हो सकता।

उपभोग भी वैश्वीकरण की जटिल समस्या है। कुछ व्यक्तियों के पास उपभोग की असीम संभावना है, तो कुछ के पास कुछ भी नहीं है। ये दोनों ही अतिवाद हैं और स्वस्थ समाज के लिए हितकर नहीं, हानिकारक हैं। आज व्यक्ति को सीमित उपभोग की दिशा में सोचना चाहिए। संसार के विविध पदार्थ सीमित हैं। उपभोग की आकाक्षाएं अनंत हैं। यदि उपभोग को स्वेच्छापूर्वक और संयमपूर्वक सीमित नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं है कि हमें नाली के जल को कहीं पेयजल के रूप में स्वीकारना पड़े।

वैश्वीकरण के दौर में बढ़ती भोगवादी संस्कृति ने कुछ को भोगी बना दिया है तो कुछ को अभावग्रस्त व दीन-हीन बना दिया है। भोगवादिता के इस तांडव से बचने का उपाय है—विसर्जन। अर्जन के साथ विसर्जन की चेतना अहिंसापरक जाग्रति की चेतना है। दुनिया में जितनी हिंसा है उसके मूल में परिग्रह ही है। यदि व्यक्ति अपने अर्जन के तरीके शुद्ध कर ले, उपभोग की सीमा कर ले तथा विसर्जन की भावना को समझ ले तो अहिंसा की दिशा में वह एक सार्थक प्रयास हो सकता है। यदि हर मनुष्य व्यक्ति-स्वत्व का विसर्जन करना सीख जाए, तो अर्थ-वैषम्यजनित हिंसा का कोई चरण रहेगा ही नहीं। यदि आर्थिक विकास के साथ संयम जुड़ जाए, तो अमीर व गरीब के बीच की खाई समाप्त

ही हो जाए। जिस दिन शांति के अर्थशास्त्र के ये घोष बुलंद हो जाएंगे, आर्थिक जगत को समस्याओं का सही समाधान उपलब्ध हो जाएगा।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आज हम सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन को बाह्य स्तर पर घटित करना चाहते हैं, जबकि मनुष्य जीता है भीतर के स्तर पर। जब तक भीतर के स्तर पर स्पर्श नहीं होगा, अंतर्जगत को नहीं छुएंगे, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। जब तक संग्रह, लोभ व स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ाने की बात रहेगी, तब तक गरीबी भी बराबर बनी रहेगी। यदि हम कुछ होना चाहते हैं, कुछ पाना चाहते हैं, तो इसका रास्ता दूसरा होगा और अगर संग्रह चाहते हैं तो रास्ता दूसरा होगा। ये दो भिन्न रास्ते हैं। इसलिए यह पुनर्विचार दृढ़ता के साथ होना जरूरी है कि हमें अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र व नीतिशास्त्र के पार्श्व में रखना है। यह इसलिए आवश्यक है कि जिससे अर्थशास्त्र अपने देश से संचालित हो। साथ ही हमारा अर्थशास्त्र अध्यात्म व नीति की छत्रछाया में संचालित हो। ऐसा होने से एक नए अर्थशास्त्र की परिकल्पना फलित होगी। उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए नए मानव का सृजन करना होगा। ऐसा नया मनुष्य ही आज की समस्याओं का समाधान खोज पाएगा। ❖

स्वयं रोते हुए जन्म लेना और फिर कुछ वर्ष सांस लेकर अपने स्त्री-बच्चों को रुलाकर मर जाना—इन दो प्रमुखता से उभरे हुए और प्रत्यक्ष दिख पड़ने वाले मोड़ों के बीच ही मनुष्य की कहानी चिरकाल से कही जाती है। उसकी इस कहानी का विषय होता है—सुख-दुख, हर्ष-विषाद, सौहार्द-द्वेष और सहअस्तित्व-विग्रह के परस्पर-विरोधी सूत्रों से गुंथे हुए कुछ सक्रिय वर्ष।

हमारी अपनी आंखें बनावट में स्थूल और सीमित-शक्ति की ही होती हैं। संसार में रहते हुए हमारे आपसी व्यवहारों को हम निभा पा सकें, बस इतनी दृष्टि-शक्ति ही हमारी आंखों को विश्व-प्रकृति ने दी है। इस सीमित दृष्टि-शक्ति के बाहर दोनों ओर जो-कुछ भी घटनाएं होती रहती हैं, उनको हम इन आंखों से कभी देख नहीं पाते। इसलिए कुछ काल के लिए स्थूल रूपों में उभरने वाले मनुष्य की कहानी का थोड़ा-सा भाग ही हमें दिख-सुन पड़ता है। माता के पेट से निकल कर बाहर दुनिया में आने का नाम हमने जन्म रखा है और गिने-चुने वर्षों में गिने-चुने ही सांस लेकर जब व्यक्ति अपना दम तोड़ देता है, उसे हमने मृत्यु की संज्ञा दी है। जन्म और मृत्यु के बीच के वर्षों को ही हम उस व्यक्ति का जीवन-काल कहते हैं। इन थोड़े से वर्षों के भीतर ही निरन्तर गति करते हुए अव्यक्त और इस कारण न दिख पड़ने वाले क्वांटम क्षेत्र (Quantum fields) परमाणुओं, अणुओं, द्व्यणुकों और मूलतत्त्वों के क्रमिक रूपों में विकास करते हुए मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों, वनस्पतियों, नदियों, समुद्रों और पर्वतों के रूपों में उभर कर मूर्त भौतिक आकार ग्रहण करते हैं और फिर उनके पारस्परिक संघात के ढीले पड़ जाने के कारण उसी उलटे क्रम में बिखर पड़ते हैं। उनके इस बिखराव का नाम ही मृत्यु है।

— **पूर्णानन्द मिश्र**

मनुष्य एवं तिर्यंच (पशुओं आदि) के अवधिज्ञान के संस्थानों को स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों के समान विविध आकृतियों वाला बताया गया है। आवश्यक निर्युक्ति तथा विशेषावश्यक भाष्य में भी इसी का अनुसरण किया गया है। साथ में यह भी बताया गया है कि स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य वलयाकार नहीं होने पर अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार भी हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि देवताओं एवं नारकीय प्राणियों के अवधिज्ञान का ही वर्णन किया गया, मनुष्य एवं तिर्यंचों के अवधिज्ञान को नानासंस्थानात्मक कह कर छोड़ क्यों दिया गया? इसका समाधान करते हुए जिनभद्र गणि ने कहा—देव और नारक जीवों का अवधिज्ञान संस्थान की अपेक्षा से नियत होता है, जबकि शेष का कादाचित्क।

अवधिज्ञान—उत्पत्ति स्थान

साध्वी श्रुतयशा

ज्ञान-चेतना के ऊपर आए हुए कर्म-परमाणुओं की सघनता की अवस्था में आत्मा को वस्तु-परिच्छेद के लिए इंद्रिय और मन पर निर्भर रहना पड़ता है। कर्म-विलय की एक भूमिका को प्राप्त साधक इन बाह्य करणों से निरपेक्ष-ज्ञान प्राप्त करने की अर्हता विकसित कर लेता है। जब कोई जीव इंद्रिय और मन की सहायता के बिना सूक्ष्म और स्थूल, व्यवहित और अव्यवहित, दूरस्थ और निकटस्थ पदार्थों को साक्षात करने का सामर्थ्य विकसित कर लेता है, तब वह ज्ञानशक्ति अवधिज्ञान के नाम से अभिहित हो जाती है। अवधिज्ञान मर्यादायुक्त ज्ञान है, क्योंकि इसमें ज्ञान को आवृत करने वाले पुद्गलों का पूर्ण विलय नहीं होता। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की विविध सीमाएं होती हैं। प्राकृत जैन वाङ्मय के समान ही पालि और संस्कृत वाङ्मय में भी अवधि का प्रयोग 'एप्लीकेशन', 'अटेंशन' व 'लिमिट' आदि अर्थों में उपलब्ध होता है।[1]

उत्पत्ति स्थान

रूप का ज्ञान चक्षु से होता है और शब्द का ज्ञान श्रोत्र से होता है। इसी प्रकार गंध एवं रस का ज्ञान घ्राणेंद्रिय तथा रसनेंद्रिय से होता है, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उस विषय का ज्ञान करने की क्षमता केवल इन्हीं आत्मप्रदेशों में है। आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम सारे आत्मप्रदेशों में होता है, फिर भी अभिव्यक्त होने के लिए करण-विशेष की अपेक्षा रहती है। श्रुतज्ञान का करण बनता है—हमारा मन और आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से—हमारा मस्तिष्क। क्योंकि सारे शब्द-ज्ञान, चिंतन, ऊहापोह, स्मृति एवं कल्पना का दायित्व-निर्वहन केवल मस्तिष्कीय 'न्यूरोंस' ही कर सकते हैं, अन्य कोशिकाएं नहीं। अभिव्यक्ति की यह करणापेक्षता केवल मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान में ही नहीं है, अवधिज्ञान को भी करण की अपेक्षा रहती है।

देववाचक ने आनुगमिक अवधिज्ञान के दो प्रकार बताए हैं—मध्यगत एवं अंतगत। अंतगत एक दिशागामी ज्ञान है और मध्यगत सर्व-दिशाओं का प्रकाशक है। अवधिज्ञान के ये दो प्रकार क्यों हुए? क्या षट्खंडागम आदि दिगंबर ग्रंथों में उपलब्ध एक-क्षेत्र अवधिज्ञान एवं अनेक-क्षेत्र अवधिज्ञान से इनका कोई संबंध है? इत्यादिक विषयों का विमर्श करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनका संबंध अवधिज्ञान की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति की विवक्षा से होना चाहिए। जो अवधिज्ञान शरीर के किसी प्रतिनियत क्षेत्र के माध्यम से प्रकट होता है, वह अंतगत या एक-क्षेत्र अवधिज्ञान है तथा जो शरीर के मध्यवर्ती अवयवों—मस्तक आदि से

अभिव्यक्त होता है या जिसमें शरीर के सभी अवयव करण बन जाते हैं—वह मध्यगत या अनेक-क्षेत्र अवधिज्ञान है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा असंख्य चैतन्यमय परमाणुओं का अखंड पिंड है। वह स्वतः प्रकाशमान सूर्य है, पर कर्म-शरीर के सघन आवरण के कारण उसका प्रकाश अवरुद्ध एवं प्रतिहत हो जाता है। प्रशस्त अध्यवसायों, शुभ लेश्या एवं शुभ योगों से जब उस आवरण में कहीं कोई छेद हो जाता है, तब वहां से उसकी रश्मियां बाहर निकलने लगती हैं। वह छिद्र मुख्यतः कार्मण शरीर के आवरण में होता है, पर उसके फलस्वरूप इस स्थूल शरीर के भी कुछ अवयव-विशेष स्फटिकवत् पारदर्शी बन जाते हैं। आधुनिक भाषा में उन्हें 'क्रिस्टलाइज्ड' या 'इलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड' कहा जा सकता है। जैन पारिभाषिकी में उनका प्राचीन नाम है—फड्डक या स्पर्द्धक। स्पर्द्धक का अभिप्राय है—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न अवधिज्ञान के निर्गमस्थान; जैसे किसी अपवरक (गर्भगृह) में कोई दीपक रखा हुआ हो और किसी गवाक्ष, जाली आदि से उसकी रश्मियां बाहर निकलें। ये निर्गमन मार्ग, गवाक्ष या जालियां एक अपवरक (गर्भगृह) में जैसे एक भी हो सकती हैं और अनेक भी, वैसे ही एक जीव के एक स्पर्द्धक भी हो सकता है और अनेक (संख्येय या असंख्येय) भी। हठयोग एवं तंत्रशास्त्र की भाषा में स्पर्द्धकों को चक्र एवं गोरक्ष पद्धति में ध्यान का स्थान कहा जा सकता है।[3] आयुर्वेद की भाषा में उन्हें मर्मस्थान भी कहा जा सकता है।[4] प्रेक्षाध्यान पद्धति में चैतन्य केंद्र की परिकल्पना का भी यही आधार है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति में विभंग अज्ञान (मिथ्यात्व सहचरित अवधिज्ञान) के अनेक संस्थानों का उल्लेख मिलता है।[5] प्रज्ञापना सूत्र में विभिन्न प्रकार के देवों तथा नारकीय प्राणियों के अवधिज्ञान के संस्थानों का उल्लेख किया गया है।

जीव		*अवधिज्ञान का संस्थान*
नारकीय जीव	—	तप्त (काष्ठ का आयत या त्रिकोण) का संस्थान।
भवनपति देव	—	पल्यक (धान्य आदि का नीचे से चौड़ा, ऊपर से कुछ संकरा कोठा) का संस्थान।
वयंतर देव	—	पटह (मध्य में चौड़ा व ऊपर-नीचे समप्रमाण वाला आतोद्य-विशेष—नगाड़ा) का संस्थान।
ज्योतिष्क देव	—	झल्लरी (चर्मावनद्ध विस्तीर्ण वलयाकार आतोद्य) का संस्थान।
सौधर्म आदि कल्पिक देव	—	देव मृदंग (नीचे से चौड़ा, ऊपर से संकड़ा आतोद्य) का संस्थान।
ग्रैवेयक देव	—	चंगेरी (गूंथे हुए पुष्पों की ऊपर तक सशिख टोकरी) का संस्थान।
अनुत्तरोप-पातिक देव	—	जवनालक (जिससे जौ बोए जाते हैं, वह नालिका) या कन्याचोलक संस्थान (सरकंचुक नामकमरुमंडल-प्रसिद्ध परिधान-विशेष) का संस्थान।[6]

मनुष्य एवं तिर्यंच (पशुओं आदि) के अवधिज्ञान के संस्थानों को स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों के समान विविध आकृतियों वाला बताया गया है।[7] आवश्यक निर्युक्ति[8] तथा विशेषावश्यक भाष्य[9] में भी इसी का अनुसरण किया गया है। साथ में यह भी बताया गया है कि स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य वलयाकार नहीं होने पर अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार भी हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि देवताओं एवं नारकीय प्राणियों के अवधिज्ञान का ही वर्णन किया गया, मनुष्य एवं तिर्यंचों के अवधिज्ञान को नानासंस्थानात्मक कह कर छोड़ क्यों दिया गया? इसका समाधान करते हुए जिनभद्र गणि[10] ने कहा—देव और नारक जीवों का अवधिज्ञान संस्थान की अपेक्षा से नियत होता है, जबकि शेष का कादाचित्क।

इस प्रकार श्वेतांबर आगम साहित्य में अवधिज्ञान या विभंग अज्ञान के संस्थानों या करणों का उल्लेख है, पर उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने इस विषय में स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। प्रतीत होता है कि इनकी व्याख्या या अर्थ-परंपरा स्पष्ट नहीं थी। केवल नंदीसूत्र के व्याख्या ग्रंथों से इतना अनुमान अवश्य हो जाता है कि ये आकार तीन स्तरों पर हो सकते हैं—1. **चेतना के स्तर पर**—कर्म शरीर में क्षयोपशम से होने वाले विवर की रचना। 2. **स्थूल शरीर के स्तर पर**—औदारिक शरीर के पर्यंतवर्ती भागों की निर्मलता। 3. **ज्ञेय क्षेत्र के स्तर पर**—जिस आकार में रश्मियां निकलती हैं, वे उसी आकार के क्षेत्र को आलोकित करती हैं। जैसे किसी बल्ब को एक सघन

आवरण से पूरी तरह लपेट दिया जाए और उस आवरण में एक छेद कर दिया जाए तो छेद के आकार का प्रकाश ही उससे बाहर निकलेगा। अवधिज्ञान को भी उस बल्ब की उपमा से समझा जा सकता है। दिगंबर साहित्य में भी अवधिज्ञान के संस्थानों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। भव-प्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है, पर क्षायोपशमिक या गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान शरीर के एक या अनेक स्थानों से प्रकट होता है। जिन आत्मप्रदेशों से अवधिज्ञान प्रकट होता है, वे आत्मप्रदेश, शरीरप्रदेश अनेक संस्थानों में संस्थित होते हैं। षट्खंडागम में इनके श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि संस्थान वर्णित हैं।[11] गोम्मटसार जीवकांड में भी इसी मंतव्य का अनुसरण किया गया है।[12] कर्णाटवृत्ति (जीवतत्त्व प्रदीपिका, पृ. 618) ने शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, झष, कलश आदि शुभ चिह्नों से लक्षित आत्मप्रदेशों में ही क्षायोपशमिक अवधिज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार की है।

वस्तुतः इन शरीर संस्थानों का आधार कर्मद्वय का क्षयोपशम है—अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय। जब अवधिज्ञानावरण का सर्वांग क्षयोपशम होता है, तब इन करणों की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए देवता, नारक एवं तीर्थंकर (द्रव्य तीर्थंकर) सर्वावधि या आभ्यंतरावधि कहलाते हैं। सामान्य देशावधि ज्ञान इन करणों के आयत्त होता है।[13] इन करणों का आकार एवं प्रमाण (संख्या) इंद्रियों के समान प्रतिनियत नहीं है।[14]

दिगंबर परंपरा के अनुसार अवधिज्ञान एवं विभंग अज्ञान के संस्थानों में मुख्यतः निम्नांकित भेद हैं—

अवधिज्ञान	**विभंग अज्ञान**
1. ये संस्थान शंख, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि शुभ आकार वाले होते हैं।	1. विभंग अज्ञान के संस्थान प्रायः गिरगिट आदि अशुभ आकार वाले होते हैं।
2. अवधिज्ञान के संस्थान नाभि के ऊपरवर्ती शरीरप्रदेश में स्थित होते हैं।	2. विभंग अज्ञान के संस्थान नाभि के अधोवर्ती भाग में अवस्थित होते हैं।

वीरसेन के अनुसार यदि कोई अवधिज्ञानी सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है तो नाभि के ऊपर के शुभ संस्थान समाप्त हो जाते हैं और नाभि के नीचे अशुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत विभंग ज्ञानी के सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद नाभि के ऊपर शुभ संस्थानों का निर्माण भी उन्हें मान्य है।[15] योगविद्या में शरीरस्थ चैतन्य केंद्रों के लिए विविध प्रकार के कमलों की मान्यता उपलब्ध होती है। उसके अनुसार—

स्वाधिष्ठान चक्र — षट्दल कमल,
मणिपूर चक्र — दशदल कमल,
अनाहत चक्र — द्वादशदल कमल,
विशुद्धि चक्र — षोडशदल कमल,
आज्ञा चक्र — द्विदल कमल,
ललना चक्र — ज्योतिकेंद्र, चतुःषष्टिदल कमल, सहस्रदल कमल।[16]

अवधिज्ञान के संस्थानों में कमल का उल्लेख नहीं है, पर आदि शब्द से अध्याहृत अन्य शुभ संस्थानों में उसे गिना जाए तो कोई अति-कल्पना न होगी। विभिन्न ग्रंथों में हृदय को अष्टदल कमल संस्थान वाला माना भी गया है, जैसे दिगंबर ग्रंथ[17], योगसूत्र[18] आदि। जैन साहित्य में प्राप्त अष्टमंगल की मान्यता के साथ भी अवधिज्ञान के शरीरगत चिह्नों का कोई सामंजस्य सूत्र रहा हो, ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है।[19]

आवश्यक निर्युक्ति में अवधिज्ञान के चौदह निक्षेपों में क्षेत्र-परिमाण एवं संस्थान—दो भिन्न निक्षेप हैं। नंदीसूत्र में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र तीन समय का, आहारक सूक्ष्म पनक जीव की अवगाहना जितना बतलाया गया है। आवश्यक निर्युक्ति में उसका संस्थान जल बिंदु जैसा बतलाया गया है। अवधिज्ञान के क्षेत्र, परिमाण एवं संस्थान में क्या अंतर है—यह विमर्शनीय है। इस अंतर का हेतु क्षेत्र परिमाण ज्ञेय की दृष्टि से बतलाया गया है और संस्थान ज्ञान के आकार की दृष्टि से।

आवश्यक निर्युक्ति, नंदीचूर्णि आदि में अवधिज्ञान के शरीरगत संस्थानों का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं है। भगवती सूत्र में भी विभंग अज्ञान के संस्थानों—वृषभ, अश्व, गज आदि के विषय में इस प्रकार का कोई विमर्श उपलब्ध नहीं होता, पर अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियों का विविध शरीरावयवों से निर्गमन होता है तथा उनके भिन्न-भिन्न आकार बन सकते हैं। इसमें श्वेतांबर आचार्यों की कोई विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती। दूसरी ओर धवला, गोम्मटसार आदि में स्पष्टतया शरीरगत संस्थानों का

उल्लेख देखकर कहा जा सकता है कि श्वेतांबर आचार्यों की अपेक्षा दिगंबर परंपरा में अवधिज्ञान के उत्पत्ति स्थान—संस्थान के विषय में अधिक स्पष्टता है।[20] ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. (क) पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, (ख) संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।
2. (क) नंदीचूर्णि पृ. 16, (ख) षट्खंडागम पृ. 13, पृ. 295
3. अपना दर्पण : अपना बिंब, पृ. 121
4. वही, पृ. 130
5. अंगसुत्ताणि 2, भगवई, 8/103
6. उवंगसुत्ताणि, पन्नवणा 33/19-26
7. वही, सू. 33/201
8. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 54-55
9. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 704-712
10. वही, गा. 711, अह सव्वकालनियओ कायाइक्को वि सेसाणं।
11. धवला—13, पृ. 296
12. गोम्मटसार जीवकांड, गा. 371
13. वही, जीवतत्त्वप्रदीपिका, पृ. 361
14. धवला, 13/297
15. वही, पृ. 298
16. अपना दर्पण : अपना बिंब, पृ. 131-33
17. (क) धवला, 13, पृ. 332, (ख) गोम्मटसार जीवकांड, गा. 442
18. पातंजलयोग दर्शनम् 3/34
19. अपना दर्पण : अपना बिंब, पृ. 128
20. विस्तार के लिए द्रष्टव्य भगवई 8/97-103 का भाष्य।

❖❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

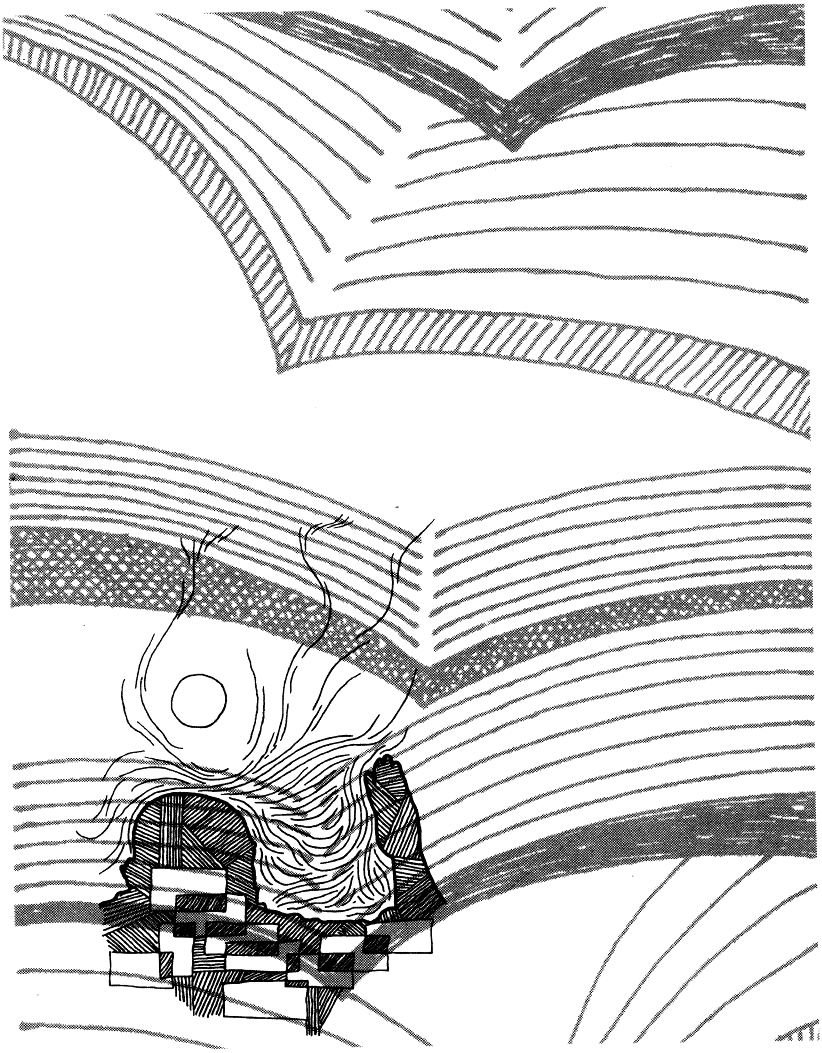

अनुभूति

'सुनो गौतम! शिष्य पर गुरु का स्नेह कमल के हार्द में स्वतःस्फुरित पराग की तरह होता है, जो अनायास सर्वव्यापी हो जाता है। और गुरु पर शिष्य का ममत्व, तुम्हारी तरह ऊन की गुंथी चटाई जैसा सुदृढ़ और प्रगाढ़ होता है। चिरकाल के संसर्ग से, जन्मों के ऋणानुबंध से हम पर तुम्हारा मोह बहुत दृढ़ हो गया है। इसी से तुम्हारा केवलज्ञान रुंध गया है। जब तक यह परभाव में रमण है, जब तक यह भंगुर रूप की आसक्ति है, तब तक अमर आत्म का दर्शन क्योंकर संभव है?'

'तो मैं प्रभु से दूर चला जाऊं? मैं प्रभु को भूल जाऊं?'

'हां, दूर चले जाना होगा, एक दिन। भूल जाना होगा, एक दिन। स्वयं महावीर तुम्हें ठेल देगा, एक दिन। तब जानोगे, कि तुम कौन हो, मैं कौन हूं? कल्याणमस्तु, गौतम!'

—वीरेन्द्रकुमार जैन

अहिंसा प्रचंड शक्ति का रूप ले, इसके लिए उसका आरंभ मन से होना चाहिए। मन के सहयोग के अभाव में केवल शरीर से पाली जाने वाली अहिंसा कमजोर की या कायर की अहिंसा होगी। ऐसी अहिंसा में कोई शक्ति नहीं होती। अगर हमारे मन में विरोधी के लिए द्वेष और घृणा भरी हो और हम उससे बदला न लेने का ढोंग करें, तो वह हमें ही अपना शिकार बनाएगा और सर्वनाश की दिशा में ले जाएगा। अगर दूसरों को चोट न पहुंचाने की दृष्टि से हम केवल शारीरिक हिंसा से बचना चाहें, तो भी कम-से-कम मन में घृणा का भाव न रखना तो जरूरी है ही—भले हम अपने भीतर सक्रिय प्रेम का विकास न भी कर पाएं।

अहिंसा का मार्ग

महात्मा गांधी

अहिंसा का सिद्धांत इस बात को जरूरी बना देता है कि हम हर प्रकार के शोषण से सर्वथा दूर रहें।

युद्ध के खिलाफ मेरा विरोध मुझे इस हद तक नहीं ले जाता कि जो लोग युद्ध में शरीक होना चाहते हैं, उनके रास्ते में मैं रुकावटें डालूं। मैं उन्हें समझाता हूं, उनके सामने अहिंसा का उत्तम मार्ग रखता हूं। उसके बाद वे चाहें वह मार्ग पसंद करें।

मैं अपने आलोचकों से कहूंगा कि वे मेरे साथ केवल भारत के लोगों के कष्टों में ही शामिल न हों, बल्कि सारी दुनिया के लोगों के—फिर वे युद्ध में लगे हुए हों या न हों—कष्टों में शामिल हों। आज दुनिया में जो मानव-संहार चल रहा है, उसे मैं उदासीन बनकर नहीं देख सकता। मेरी यह अविचल श्रद्धा है कि आपस में एक-दूसरे का संहार करना मानव की प्रतिष्ठा को शोभा नहीं देता। मैं निःसंदेह कह सकता हूं कि इससे बाहर निकलने का मार्ग जरूर है।

तीन अंकों में समाप्य लेख की दूसरी कड़ी

जब तक हम इस दुनिया में सशरीर मौजूद हैं, तब तक पूर्ण अहिंसा का पालन असंभव है। क्योंकि हमारे रहने के लिए कम-से-कम थोड़ी जगह तो चाहिए ही। जब तक हम इस शरीर में रहते हैं, तब तक पूर्ण अहिंसा केवल युक्लिड के बिंदु या सरल रेखा की तरह एक सिद्धांत ही बनी रहने वाली है, लेकिन हम जीएं तब तक प्रतिक्षण हमें अहिंसा के पालन का प्रयत्न तो करना ही होगा।

प्राण लेना धर्म हो सकता है। किसी तरह इस देह को टिकाए रखने के लिए भी हमें प्राण तो लेने ही पड़ेंगे; जैसे भोजन के लिए अन्न, फल, वनस्पति आदि लेना होगा और स्वास्थ्य के लिए जंतुनाशक पदार्थों द्वारा मच्छरों आदि के प्राण लेने होंगे; और हम यह भी मानते हैं कि ऐसा करने में अधर्म नहीं है।....परमार्थ के लिए भी हम हिंसक प्राणियों का नाश करते हैं।....ऐसा भी हो सकता है कि कुछ मामलों में मनुष्य-वध तक को धर्म समझा जाए। मान लीजिए कि पागलपन में या नशे में एक आदमी नंगी तलवार लेकर घूमता है और जो कोई सामने आए, उसे काटता चला जाता है। उसे जिंदा पकड़ लेने की शक्ति किसी में नहीं है। अतः जो आदमी उसे मार सकेगा, वह परोपकारी माना जाएगा।

मैं देख रहा हूं कि हर प्रसंग पर देह के आत्यंतिक नाश के लिए स्वाभाविक संकोच बना रहता है। उदाहरण के लिए, पागल कुत्ते को बंद करके भूखों मारने की बात है; परंतु मेरा दया-धर्म मेरे लिए यह वस्तु अशक्य बना डालता है। मैं कुत्ते या मनुष्य को लाचारी से तड़पते नहीं देख सकता। दुख से तड़पते हुए मनुष्य को मैं मारता नहीं,

क्योंकि उसके लिए मेरे पास आशाजनक इलाज है। तड़पते कुत्ते को मैं मार डालूंगा, क्योंकि उसके लिए मेरे पास कोई आशाजनक इलाज नहीं है। मेरा लड़का पागल कुत्ते के काटने से पागल हो जाए, उसके रोग के लिए मेरे पास कोई आशाजनक इलाज न हो और वह दुख से तड़पता हो, तो उसके देह का अंत लाना मैं अपना धर्म समझूंगा। दैव के ऊपर आधार रखने के लिए धर्म की एक मर्यादा है। उपाय कर चुकने के बाद हम दैवाधीन हो जाते हैं। तड़पते हुए बालक के लिए किए जाने वाले इलाजों में आखिरी इलाज उसकी देह का अंत करना भी है।

अहिंसा बड़ी व्यापक वस्तु है। हम हिंसा की होली के बीच घिरे हुए पामर प्राणी हैं। यह वाक्य गलत नहीं है कि 'जीव जीव पर जीता है'। मनुष्य एक क्षण के लिए भी बाह्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते सभी क्रियाओं में इच्छा-अनिच्छा से वह कुछ-न-कुछ हिंसा तो करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूटने के लिए वह महाप्रयत्न करता है, यदि उसकी भावना में केवल अनुकंपा होती है, यदि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म जंतु का भी नाश नहीं चाहता और यथाशक्ति उसे बचाने का प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसा का पुजारी है। उसके कार्यों में निरंतर संयम की वृद्धि होगी; उसमें निरंतर करुणा बढ़ती जाएगी। किंतु कोई देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर, अहिंसा की तह में ही अद्वैत-भावना निहित है। और, अगर प्राणी मात्र में अभेद हो, तो एक के पाप का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, इस कारण भी मनुष्य हिंसा से बिल्कुल अछूता नहीं रह सकता। समाज में रहने वाला मनुष्य समाज की हिंसा में, अनिच्छा से ही क्यों न हो, साझेदार बनता है। दो राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ने पर अहिंसा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति का धर्म है कि वह उस युद्ध को रोके। जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसमें विरोध करने की शक्ति न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध कार्य में सम्मिलित हो; और सम्मिलित होते हुए भी उसमें से अपने को, अपने देश को और सारे संसार को उबारने का हार्दिक प्रयत्न करे।

अपने विधायक अथवा रचनात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ होता है व्यापक से व्यापक प्रेम, बड़ी से बड़ी उदारता। अगर मैं अहिंसा का अनुयायी हूं, तो मुझे शत्रु को प्यार करना ही चाहिए। मैं अन्याय करने वाले अपने पिता या पुत्र पर जो नियम लागू करूंगा, वे ही नियम मुझे उस अन्यायी पर भी लागू करने चाहिए, जो मेरा शत्रु है या मेरे लिए अजनबी है। इस सक्रिय अहिंसा में जरूरी तौर पर सत्य और निडरता का समावेश होता है। क्योंकि मनुष्य अपने प्रियजन को धोखा नहीं दे सकता, इसलिए वह न तो उससे डरता है और न उसे डराता है। जीवन का दान सारे दानों से बड़ा है। जो मनुष्य सच्चे अर्थ में जीवन का दान देता है, वह संपूर्ण विरोध और शत्रुता को शांत कर देता है। वह सम्मानपूर्ण समझौते का मार्ग खोल देता है। और ऐसा कोई भी मनुष्य, जो स्वयं भय का शिकार है, यह दान नहीं दे सकता। इसलिए उसे स्वयं निर्भय बन जाना चाहिए। कोई मनुष्य कायर होकर अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अहिंसा का पालन बड़े से बड़े साहस की मांग करता है।

तलवार के त्याग के बाद अपने विरोधियों को देने के लिए मेरे पास प्रेम के प्याले के सिवा दूसरा कुछ नहीं रहा। प्रेम का यह प्याला उनके सामने रखकर ही मैं उन्हें अपने पास खींचने की आशा रखता हूं। मैं मनुष्यों के बीच स्थाई शत्रुता की कल्पना ही नहीं कर सकता। और पुनर्जन्म में विश्वास रखने के कारण मैं यह आशा रखता हूं कि अगर इस जन्म में नहीं तो दूसरे किसी जन्म में मैं सारी मानव-जाति को अपने प्रेमपाश में बांध सकूंगा। प्रेम संसार की प्रबल से प्रबल शक्ति होते हुए भी नम्र से नम्र शक्ति है। क्रोधरहित और द्वेषरहित कष्ट-सहन का सूर्य जब उगता है, तब उसके सामने कठोर से कठोर हृदय भी पिघल जाता है और घोर से घोर अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

अहिंसा 'दुष्टता के खिलाफ संपूर्ण सच्चे युद्ध का त्याग नहीं' है। इसके विपरीत, मेरी अहिंसा दुष्टता और प्रतिहिंसा के मुकाबले, जो कि स्वभावतः दुष्टता को बढ़ाती है, अधिक सक्रिय और अधिक सच्चा संग्राम है। मैं अनीति का मानसिक और इसीलिए नैतिक विरोध करने का विचार करता हूं। मैं अत्याचारी की तलवार को उससे भी ज्यादा तेज तलवार से बेकार नहीं बनाना चाहता, बल्कि उसकी इस आशा को निर्मूल करके कि मैं उसका शारीरिक प्रतिकार करूंगा, उसे बेकार बना देना चाहता हूं। मैं शारीरिक शक्ति के बदले आत्मा की शक्ति से उसका प्रतिकार करूंगा, जिससे वह भौंचक्का रह जाएगा। पहले तो वह इस शक्ति से चौंधिया जाएगा और

अंत में वह इसका लोहा मान लेगा; इससे उसका सिर नीचा नहीं होगा, बल्कि ऊंचा उठ जाएगा। ऐसा कहा जा सकता है कि यह एक आदर्श स्थिति है; और वास्तव में यह आदर्श स्थिति है भी।

मैंने बंदूकधारी में और उसकी मदद करने वाले में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना है। जो मनुष्य लुटेरों की टोली में उनकी आवश्यक सेवा करने, उनका बोझ ढोने, लूट के समय पहरा देने तथा घायल होने पर उनकी सेवा करने के लिए सम्मिलित होता है, वह लूट के मामले में लुटेरों जितना ही जिम्मेदार है। इस तरह सोचने पर फौज में केवल घायलों की ही सार-संभाल करने के काम में लगा हुआ व्यक्ति भी युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं हो सकता।

अहिंसा-धर्म के मानने वालों और सूक्ष्म रीति से उसका पालन करने वालों के सम्मुख यथासंभव स्पष्टता से मैंने अपनी राय प्रकट की है। सत्य का आग्रही रूढ़ि से चिपट कर ही कोई काम न करे। वह अपने विचारों पर हठपूर्वक डटा न रहे, हमेशा यह मानकर चले कि उनमें दोष हो सकता है और जब दोष का ज्ञान हो जाए तब भारी-से-भारी जोखिमों को उठाकर भी उसे स्वीकार करे और उसके लिए प्रायश्चित्त भी करे।

अहिंसा प्रचंड शक्ति का रूप ले, इसके लिए उसका आरंभ मन से होना चाहिए। मन के सहयोग के अभाव में केवल शरीर से पाली जाने वाली अहिंसा कमजोर की या कायर की अहिंसा होगी। ऐसी अहिंसा में कोई शक्ति नहीं होती। अगर हमारे मन में विरोधी के लिए द्वेष और घृणा भरी हो और हम उससे बदला न लेने का ढोंग करें, तो वह हमें ही अपना शिकार बनाएगा और सर्वनाश की दिशा में ले जाएगा। अगर दूसरों को चोट न पहुंचाने की दृष्टि से हम केवल शारीरिक हिंसा से बचना चाहें, तो भी कम-से-कम मन में घृणा का भाव न रखना तो जरूरी है ही—भले हम अपने भीतर सक्रिय प्रेम का विकास न भी कर पाएं।

जो मनुष्य व्यापार में धोखा देकर तिल-तिल करके किसी आदमी की जान लेने की बिल्कुल परवाह नहीं करता, या जो हथियारों की मदद से कुछ गायों की रक्षा करके कसाई का वध करने की कोई चिंता नहीं करता, या जो देश का कल्पित भला करने के लिए कुछ अधिकारियों की हत्या करने में जरा भी संकोच नहीं करता, वह अहिंसा का अनुयायी नहीं है। ये सब काम घृणा, कायरता और डर की वजह से मनुष्य करता है।

मैं हिंसा का विरोध इसलिए करता हूं कि वह जो भला करती दिखाई देती है, वह केवल अस्थाई भला होता है। लेकिन हिंसा जो बुराई पैदा करती है वह स्थाई होती है। मैं इस बात को नहीं मानता कि प्रत्येक अंग्रेज को मार डालने से हिंदुस्तान का थोड़ा भी भला होगा। अगर कोई आदमी कल प्रत्येक अंग्रेज की हत्या को संभव बना दे, तो भी देश के करोड़ों लोग उसी तरह दुखपूर्ण जीवन बिताएंगे जिस तरह वे आज बिता रहे हैं। आज हमारे लोगों की जो स्थिति है, उसके लिए अंग्रेजों की अपेक्षा हम देशवासी ज्यादा जिम्मेदार हैं। अगर हम केवल भला ही काम करें, तो अंग्रेजों में बुरा काम करने की ताकत नहीं रहेगी। इसीलिए मैं आंतरिक सुधार पर निरंतर जोर देता हूं।

इतिहास हमें यह शिक्षा देता है कि जिन्होंने निस्संदेह प्रामाणिक उद्देश्यों के साथ लोभी मनुष्यों के विरुद्ध पशुबल का उपयोग करके उन्हें हरा दिया है, वे स्वयं समय आने पर उन हारे हुए लोगों के इस रोग के शिकार बन गए हैं।

विदेशी शासकों की हिंसा से हमारे ऐसे देशवासियों की हिंसा की दिशा में बढ़ जाना बड़ा आसान और स्वाभाविक कदम होगा, जिन्हें हम अपने देश की प्रगति में बाधक समझते हों। दूसरे देशों में हिंसक कार्यों का चाहे जो परिणाम आया हो, लेकिन हमारे देश में अहिंसा के तत्त्वज्ञान का विचार किए बिना भी इस बात को समझने के लिए बुद्धि पर अधिक जोर डालने की जरूरत नहीं है कि अगर हम प्रगति को रोकने वाली अनेक बुराइयों से समाज को मुक्त करने के लिए हिंसा का आश्रय लेंगे, तो हमारी कठिनाइयां ज्यादा बढ़ जाएंगी और हमारी आजादी का दिन दूर होता जाएगा। सुधारों की आवश्यकता को न समझने के कारण जो लोग सुधारों के लिए तैयार नहीं हैं, उन पर अगर सुधार जबरन लादे जाएंगे, तो वे क्रोध से पागल हो जाएंगे और बदला लेने के लिए विदेशियों की मदद चाहेंगे। क्या पिछले अनेक वर्षों से हमारी आंखों के सामने ऐसा ही नहीं होता आया है, जिसका दुखद स्मरण आज भी हमारे लिए वैसा ही ताजा है?

अगर सरकार की संगठित हिंसा के साथ मेरा कोई

संबंध नहीं हो सकता, तो देश के लोगों की असंगठित हिंसा से मेरा और भी कम संबंध हो सकता है। मैं इन दो हिंसाओं के बीच पिस कर मर जाना ज्यादा पसंद करूंगा।

मैं पचास से भी अधिक वर्षों से निरंतर वैज्ञानिक निश्चितता के साथ अहिंसा और उसकी संभावनाओं को आचरण में उतारता आया हूं। मैंने परिवार में, संस्था में, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में—जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसा का उपयोग किया है। ऐसा एक भी उदाहरण मैं नहीं जानता, जिसमें अहिंसा असफल रही हो। जहां वह कभी-कभी असफल होती दिखाई दी, वहां मैंने अपनी अपूर्णताओं को उस असफलता के लिए दोषी माना है। मैं अपने लिए पूर्णता का दावा नहीं करता। लेकिन, मैं सत्य का—जो ईश्वर का केवल दूसरा नाम है—उत्कट शोधक होने का दावा जरूर करता हूं। सत्य की शोध के प्रयत्न में ही मुझे अहिंसा के दर्शन हुए हैं। उसका प्रचार और प्रसार करना मेरे जीवन का 'मिशन' है। इस 'मिशन' को आगे बढ़ाने के लिए ही मैं जिंदा हूं।

मेरे लिए यह व्यक्तिगत संतोष की बात है कि मुझ पर सामान्यतः उन लोगों का भी स्नेह और विश्वास बना रहता है, जिनके सिद्धांत और नीतियों का मैं विरोध करता हूं। दक्षिण अफ्रीका वालों ने मुझे अपने व्यक्तिगत विश्वास तथा मित्रता का पात्र बनाया। ब्रिटिश नीति तथा ब्रिटिश शासन-पद्धति की लाख निंदा करने पर भी मुझ पर हजारों अंग्रेज पुरुष और स्त्रियां अपना प्रेम बरसाते हैं और आधुनिक भौतिक सभ्यता को पूरी तरह धिक्कारने पर भी मेरे अमरीकी और यूरोपियन मित्रों का मंडल सदा बढ़ता ही रहता है। यह भी अहिंसा की ही विजय है।

मेरा अनुभव, जो दिन-प्रतिदिन अधिक सबल और समृद्ध बनता जा रहा है, मुझसे कहता है कि सत्य और अहिंसा का यथासंभव अधिक से अधिक पालन किए बिना व्यक्ति या राष्ट्र शांति का अनुभव नहीं कर सकते। बदला लेने की नीति को कभी भी सफलता नहीं मिली है।

अहिंसा के प्रति मेरा जितना प्रेम है उतना इस लोक या परलोक की दूसरी किसी भी वस्तु के प्रति नहीं है। केवल सत्य का मेरा प्रेम ही इस प्रेम की बराबरी कर सकता है। सत्य को मैं अहिंसा का समानार्थक शब्द मानता हूं; इस अहिंसा के जरिए ही मैं सत्य का दर्शन कर सकता हूं और उसके निकट पहुंच सकता हूं। मेरी जीवन-पद्धति जैसे भारत के विभिन्न धर्मों के बीच कोई भेद नहीं करती, वैसे ही दुनिया की विभिन्न जातियों के बीच भी कोई भेद नहीं करती। मेरी दृष्टि में जगत के सारे ही मनुष्य समान हैं।

मैं तो केवल एक रंक साधक हूं। मैं सदा ठोकर पर ठोकर खाता रहता हूं, तो भी सदा ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता हूं। मेरी निष्फलताएं मुझे पहले से अधिक जाग्रत बनाती हैं और मेरी श्रद्धा को अधिक गहरा बनाती हैं। श्रद्धा की आंख से मैं यह देख सकता हूं कि सत्य और अहिंसा के द्विविध धर्म के पालन में ऐसी अमोघ शक्तियां भरी हैं, जिनकी हमें बहुत ही धुंधली और अधूरी कल्पना है। मैं अदम्य आशावादी भी हूं। मेरा आशावाद मेरे इस विश्वास के आधार पर है कि व्यक्ति अहिंसा की शक्तियों का अमर्याद रूप में विकास कर सकता है। आप अपने भीतर जितना अधिक अहिंसा का विकास करेंगे, उतनी ज्यादा उसकी छूत फैलेगी—यहां तक कि वह आपके आस-पास के सारे वातावरण पर छा जाएगी और धीरे-धीरे संपूर्ण जगत में फैल सकती है।

मेरी धारणा के अनुसार अहिंसा किसी भी रूप या किसी भी अर्थ में निष्क्रिय वृत्ति नहीं है। अहिंसा को जैसा मैं समझता हूं, उसके अनुसार तो वह दुनिया की सबसे बड़ी सक्रिय शक्ति है। अहिंसा एक सार्वभौम और सर्वोच्च नियम है। अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मुझे एक भी परिस्थिति ऐसी याद नहीं है जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं लाचार हूं, मेरे पास अहिंसा की दृष्टि से इसका कोई उपाय नहीं है।

असल में देखा जाए तो अहिंसा की कसौटी ही यह है कि अहिंसक लड़ाई में कोई कटुता या द्वेषभाव नहीं होता और अंत में शत्रु भी हमारे मित्र बन जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका में मुझे ऐसा ही अनुभव जनरल स्मट्स के साथ हुआ था। अपने सबसे कटु विरोधी और आलोचक के रूप में मेरे साथ उनका संबंध शुरू हुआ था। लेकिन आज वे मेरे घनिष्ट मित्र हैं।

आत्मरक्षा के लिए मारने की शक्ति का होना बहुत जरूरी नहीं है। इसके लिए हमारे भीतर मरने की शक्ति होनी चाहिए। जब मनुष्य मरने की पूरी तैयारी कर लेता है, उस समय वह विरोधी का हिंसक विरोध करने की इच्छा भी नहीं रखता। बेशक, मैं स्वतःसिद्ध कथन के रूप में यह बात रख सकता हूं कि मारने की इच्छा मरने की

इच्छा से बिल्कुल उलटी है और इतिहास ऐसे मनुष्यों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिन्होंने हृदय में साहस और होठों पर करुणा का भाव लिए मर कर अपने हिंसक विरोधियों के हृदय को पूरी तरह बदल दिया था।

मैं तो अहिंसा के विज्ञान का एक नम्र शोधक-मात्र हूं। उसकी गुप्त शक्तियां कभी-कभी मुझे उसी प्रकार चक्कर में डाल देती हैं, जिस प्रकार वे मेरे साथियों और सहयोगियों को चक्कर में डाल देती हैं। आजकल यह कहना एक फैशन-सा हो गया है कि समाज का संगठन या संचालन अहिंसा के रास्ते पर नहीं हो सकता। मेरा इस विषय में मतभेद है। जब परिवार में पिता अपने सुकुमार बच्चे को थप्पड़ मारता है, तब बच्चा बदला लेने का कोई विचार नहीं करता। बच्चा, पिता की बात मार पड़ने के कारण नहीं मानता, बल्कि उसके बुरे व्यवहार से पिता के प्रेम को जो आघात पहुंचता है, उसे समझ जाने के कारण वह पिता की बात मानता है। मेरी राय में यही वह सिद्धांत है, जिसके आधार पर समाज चलता है या चलना चाहिए। जो बात परिवार के लिए ठीक है, वही समाज के लिए भी ठीक होनी चाहिए, क्योंकि समाज भी एक व्यापक परिवार ही है।

मैं किसी सांप की भी जान लेकर खुद जीना नहीं चाहता। उसकी हत्या करने के बजाए मैं अपने को उसे डसने दूंगा और मर जाना पसंद करूंगा। लेकिन, यह भी संभव है कि अगर ईश्वर मेरी ऐसी क्रूर परीक्षा करे और सांप को मुझे डसने दे, तो शायद मुझमें मर जाने की हिम्मत न रहे, मेरे भीतर का पशु मुझ पर हावी हो जाए और मैं इस नाशवान शरीर को बचाने के लिए सांप की हत्या करना चाहूं। मैं यह स्वीकार करता हूं कि अहिंसा की श्रद्धा मेरी रग-रग में इतनी व्याप्त नहीं हो गई है कि मैं यह बात जोर देकर कह सकूं कि सांपों से मैं बिल्कुल नहीं डरता। और मुझमें सांपों को अपना मित्र बनाने की वह शक्ति आ गई है, जिसे मैं अपने भीतर पैदा करना चाहूंगा।

मैं विज्ञान की प्रगति के विरुद्ध नहीं हूं। इसके विपरीत, मैं पश्चिम की वैज्ञानिक भावना का प्रशंसक हूं; और अगर मैं अपनी इस प्रशंसा को मर्यादित बनाता हूं, तो उसका कारण यह है कि पश्चिम का वैज्ञानिक ईश्वर की निचली कोटि के प्राणियों का बिल्कुल विचार नहीं करता। प्राणियों की चीर-फाड़ की क्रिया से मैं अपनी समग्र आत्मा से घृणा करता हूं। विज्ञान के नाम पर और तथाकथित मानव-सेवा के नाम पर निर्दोष प्राणियों का जो अक्षंतव्य वध किया जाता है, उसे मैं धिक्कारता हूं। निर्दोष प्राणियों के रक्त से कलंकित बने हुए सारे वैज्ञानिक आविष्कारों और सारी खोजों को मैं बिल्कुल निरर्थक समझता हूं। अगर प्राणियों की चीर-फाड़ के बिना रक्त की गति के सिद्धांत की शोध नहीं हो सकती थी, तो मानव-जाति का काम इस शोध के बिना भी अच्छी तरह चल सकता था। और, मैं उस दिन को आते हुए स्पष्ट देख रहा हूं, जब पश्चिम के प्रामाणिक वैज्ञानिक ज्ञान की शोध की मौजूदा पद्धतियों की मर्यादा बांध देंगे।

अहिंसा को समझना कठिन है; उसे आचरण में लाना तो हमारे जैसे कमजोर मनुष्यों के लिए और भी ज्यादा कठिन है। हमें प्रार्थना की वृत्ति धारण करके नम्र भाव से काम करना चाहिए और भगवान से निरंतर याचना करनी चाहिए कि वह हमारी विवेक की आंखें खोल दे, ताकि प्रतिदिन हमें जो विवेक-दृष्टि प्राप्त हो, उसके अनुसार काम करने के लिए हम सदा तैयार रहें। इसलिए शांति के एक उपासक और संदेश-वाहक के नाते आज मेरा इतना ही काम है कि हमारी स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने के आंदोलन को आगे बढ़ाने में मैं अविचल भाव से अहिंसा की उपासना में लगा रहूं और अगर भारत अहिंसक आंदोलन करके अपनी स्वतंत्रता पाने में सफल हो जाए, तो विश्वशांति की दिशा में वह भारत का सर्वश्रेष्ठ योगदान होगा। ❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

सुनी हुई बातों पर विश्वास न करो, परंपराओं पर विश्वास न करो, क्योंकि वे पीढ़ी–दर–पीढ़ी चली आई हैं। किसी बात पर इसलिए विश्वास न करो कि वह जनश्रुति है और बहुत लोग उसे कह रहे हैं या किसी प्राचीन ऋषि ने कहा है। किसी बात पर इसलिए भी विश्वास न कर लो कि उसे तुम्हारे गुरुओं ने या बड़ों ने कहा है। किसी बात पर केवल तब विश्वास करो जब उसे जांच–परख लो और उसका विश्लेषण कर लो, जब यह देख लो कि वह तर्कसंगत है, तुम्हें नेकी के रास्ते लगाती है और सब के लिए फायदेमंद है, तब तुम उसके अनुसार ही आचरण करो।

— भगवान बुद्ध

'तुलसी' की सकारात्मक सोच से एक अभिनव क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ माना जा सकता है। ज्ञानरूपी सूर्य ने मानो द्वार पर दस्तक दी है। ज्ञान के महा-आलोक में सदियों से सुप्त संस्कार जागृति का संदेश पा जाग्रत हुए हैं। मन एवं आभामंडल की पवित्रता द्वारा चारों ओर की बाधाएं स्वतः दूर होती चली गई हैं। पवित्र अंतःकरण से भीतर का तेज प्रस्फुटित हो उठा और वह प्रकाश, वह तेज अनेक रूपों में सामने आया। सत्यनिष्ठा, धृति, अभय, गंभीरता, मैत्री, आत्मानुशासन, सद्भाव आदि दैवी गुण उस महामनीषी-महापुरुष तुलसी के आंतरिक प्रकाश के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं।

तुलसी : अकिंचन का अलौकिक सौंदर्य

समणी अमितप्रज्ञा

महर्षि वाल्मीकि ने नारद के सामने एक प्रश्न उपस्थित किया—'चरित्र-संपन्न पुरुष कौन? महापुरुष कौन?' महर्षि वाल्मीकि को इस महत्त्वपूर्ण और वजनदार प्रश्न का उत्तर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन में मिला। वाल्मीकि चरित्रयोग के सच्चे जिज्ञासु थे। उनके अंतःकरण का कण-कण महापुरुष की खोज में निमग्न था। उस सदी के चरित्रवान एवं अध्यात्मद्रष्टा ऋषि-पुरुष की लेखनी से महापुरुष की खोज के रूप में श्रीराम जैसा व्यक्तित्व निःसृत हुआ। महापुरुष प्रत्येक युग में चरित्र, नीति, न्याय एवं धर्म जैसे मूल्यवान गुणों को स्वयं के व्यक्तिगत जीवन में प्रधानता देकर अपने अनुभव रूपी खजाने को मानवमात्र के लिए सुपुर्द कर देते हैं।

महर्षि वाल्मीकि के प्रश्न की तरह ही मेरे मन में भी एक प्रश्न की तरंग उठ रही है—'बीसवीं सदी का चरित्र-संपन्न पुरुष कौन? बीसवीं सदी का महापुरुष कौन?' महर्षि वाल्मीकि की कसौटी को सामने रखकर बीसवीं सदी के चरित्र-संपन्न पुरुष को ढूंढ़ने यदि निकलें तो कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'तुलसी' के रूप में वैसे ही गुणों से संपन्न व्यक्ति को हम पाएंगे। वाल्मीकि को 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' मिले और बीसवीं सदी के जन-जन को 'तुलसीराम' मिले। सतयुग हो, चाहे कलियुग और चौथा कालखंड हो, चाहे पंचम—यह वसुंधरा बहुरत्ना है। राम और तुलसीराम के अभिधान का यह अद्भुत संयोग भी बड़ी विचित्र समानताओं को लिए है। मृत हो चुका है राग जिसका, वह 'राम' है। 'तुलसी' भी इस जगती में पवित्रता के लिए प्रसिद्ध है। अपनी पवित्रता द्वारा राग को मारने की दिशा में जिनके चरणयुगल सतत प्रवहमान हैं, निरंतर गतिशील हैं—वह 'तुलसी' है। नाम का यह साम्य गुणों से भी साम्यता का प्रकटीकरण कर रहा है।

जन्म जयंती
कार्तिक शुक्ला द्वितीया : 12 नवंबर
हर्ष : हर्ष

'तमसः परस्तात्'—विशेषण जहां 'राम' के जीवन में चरितार्थ हुआ, वह 'तुलसी' जीवन-दर्शन में भी शतशः सार्थक हुआ। ऐसा लगता है कि 'तमसः परस्तात्' में महापुरुष की विशिष्ट और सार्वभौम परिभाषा निहित है। 'तुलसी' की सकारात्मक सोच से एक अभिनव क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ माना जा सकता है। ज्ञानरूपी सूर्य ने मानो द्वार पर दस्तक दी है। ज्ञान के महा-आलोक में सदियों से सुप्त संस्कार जागृति का संदेश पा जाग्रत हुए हैं। मन एवं आभामंडल की पवित्रता द्वारा चारों ओर की बाधाएं स्वतः दूर होती चली गई हैं। पवित्र अंतःकरण से भीतर का तेज प्रस्फुटित हो उठा और वह प्रकाश, वह तेज अनेक रूपों में सामने आया। सत्यनिष्ठा, धृति, अभय,

गंभीरता, मैत्री, आत्मानुशासन, सद्भाव आदि दैवी गुण उस महामनीषी-महापुरुष तुलसी के आंतरिक प्रकाश के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं।

'वासीचंदन तुल्यता'—समभाव की इस उत्कृष्ट स्थिति का निदर्शन 'राम' और 'तुलसी'—दोनों ही महापुरुषों के जीवन में प्रायः समान नजर आता है। एक ओर तेजस्वी भाल पर राजतिलक की तैयारियां, दूसरे ही क्षण चौदह वर्ष के वनवास का कठोरतम आदेश सुनकर भी मुखाकृति पर सहज-सौम्य भाव—श्रीराम के समता-सिंधु में अवगाहन का नव्य नजारा दशरथ को दिखा रहा था। तब पितृहृदय बोल उठा था—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न लक्षितो मया तस्य स्वल्पोप्याकारविभ्रमः।।

गुरुदेवश्री तुलसी की जन्मकुंडली में भी राजयोग एवं प्रबल अभ्युदय योग के साथ-साथ सहजन्मा प्रबल संघर्षयोग भी था। फलस्वरूप वे जीवनभर विरोधों की आंच में पकते रहे और उस विरोध में भी विनोद का अनुभव करते रहे। संघर्षों की आंधी और तूफानों में भी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की दीपशिखा को प्रज्वलित रखने की क्षमता और उत्कृष्ट समभाव का निदर्शन उस महावीर्य-महामानव में लक्षित होता है।

चातुर्मास के 4-5 दिन शेष रहते हुए रायपुर से विहार—आवेश और उद्विग्नता के उन क्षणों में भी 'तुलसी' की समता भाव की अखंड साधना महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध काव्य रघुवंश के इस पद्य की याद दिलाती है—

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
अलंघनीयताहेतुद्वयमेतद् मनस्विनि।।

चरित्र के आदर्श में शरीर और मन—दोनों का विकास सम्मिलित है। इस दृष्टि से श्रीराम शारीरिक सौंदर्य एवं चित्त की एकाग्रता के सजीव चित्र हैं। शांति एवं न्याय का जन्म उनके पवित्र अंतःकरण की ही पहचान है। इसी तरह शास्त्रों में आचार्य के लिए 'अष्टगणिसंपदा से सुशोभित'—विशेषण प्रयुक्त हुआ है। गुरुदेवश्री तुलसी का भव्य भाल, देदीप्यमान उणिहार, आंखों में शनि, कान पर उभरी हुई केश-राशि—उनके बाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य का प्रकटीकरण करते हुए शरीर संपदा के विशेषण को सार्थक करते हैं। वस्त्रधारण करने की कला शारीरिक सौंदर्य की अभिवृद्धि में चार-चांद लगाती रही है। चुंबकीय व्यक्तित्व के धनी, अप्रतिम मेधावी, प्रखर पौरुष की जीवंत कहानी महामहिम 'तुलसी' की शारीरिक संपदा में स्पष्ट परिलक्षित होती है। उसको निरखते हुए महावीरयुगीन सम्राट श्रेणिक की तरह सहज स्वर गुंजायमान हो सकते हैं। तब ये स्वर गुंजायमान हुए थे—

अहो! वण्णो अहो! रूवं अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खंती अहो! मुत्ती अहो! भोगे असंगया।।

अर्थात्—

अद्भुत वर्ण, अद्भुत रूप, अद्भुत ऋजुता सौम्यता।
अद्भुत शांति, अद्भुत मुक्ति, अद्भुत भोग असंगता।।

वाचना संपदा यानी अध्यापन कौशल में भी वे बेजोड़ थे। तुलसी पोशाल के छात्रों को घंटों-घंटों तक अपने सामने बिठाकर नाममाला, कालुकौमुदी कंठस्थ कराना उनके अध्यापन का एक क्रम था। जब कभी पढ़ते-पढ़ते थक जाते और इधर-उधर घूमने लगते, हंसी-मजाक करते दिखाई देते या असमय में नींद लेते नजर आते तो तुलसी का कठोर अनुशासन खड़े-खड़े पढ़ने का प्रायश्चित्त देता। छात्र खड़े-खड़े पग पीटते, तब तुलसी उन्हें कहते—'कितना ही पगपीटा करो, गलती का दंड तो भुगतना ही होगा।' अनुशासन की ऐसी कला, छात्रों की समस्या का समाधान, मेधावी एवं होनहार छात्रों के प्रश्नों के सटीक उत्तर, अल्पवयस्क तुलसी की श्रुत समृद्धि का परिचय कराते हैं। साथ ही जिह्वा पर सरस्वती के निवास का एहसास भी कराते हैं। अलमस्त फकीरी में आचार संपदा, शरीर संपदा, श्रुत संपदा, वचन संपदा तुलसी के सौंदर्य को अलौकिक कर रही हैं।

धन-वैभव के स्वामी होते हुए भी श्रीराम के चौदह वर्ष वनवास में बीते। दूसरों की खुशी के लिए श्रीराम ने सुविधा को संन्यास दिया। अकिंचन होते हुए भी युवा तुलसी राजा बने। लौकिक प्रवाद है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः'—जहां आकृति है वहां गुणों का निवास है। बृहदवृत्ति में कहा गया—'गुणवति धनं ततः श्री श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यमिति'—गुणवान के प्रति धन आता है। उससे उसकी शोभा बढ़ती है। उसमें आदेश देने की क्षमता बढ़ती है और अंततोगत्वा वह राजा होता है। प्रभावी आकृति, प्रभावी व्यवहार ने मुनि तुलसी को भी तेरापंथ का सरताज बनाया। साम्य और वैषम्य के इन स्तरों पर भी दोनों ही महापुरुषों के मुख पर शांत रस का पराग हर क्षण मधुर मुस्कान बिखेरता रहा है और दुनिया को भी ऐसी ही मुस्कान का संदेश देता रहा है। ❖

एक धर्म-संघ के आचार्य होते हुए भी संप्रदाय की दीवारें उनको बांध नहीं सकीं। उन्होंने स्वयं को तेरापंथ के हित-साधन तक ही सीमित नहीं रखा। साध्वी कनकश्रीजी के शब्दों में उनका जीवन बिना दीवारों का मंदिर था। महावीर अधिकारी ने उनके असांप्रदायिक और उदार व्यक्तित्व को इन शब्दों में आंका है—'मैं कहूंगा कि धार्मिक जगत में आचार्य तुलसी जैसा महापुरुष इस समय कोई नहीं है। अपने संप्रदाय को पोषण देने वाले और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए बहुत-से धर्माचार्य मिल जाएंगे, परंतु आचार्य तुलसी जैसा निर्भीक और दो-टूक बात कहने वाला दूसरा धर्माचार्य शायद ही भारत में हो। शताब्दियों के बाद ऐसे महापुरुषों का आगमन होता है। वस्तुतः आचार्य तुलसी के मार्ग पर चलकर ही भारत शस्त्र-क्रांति से बच सकता है।'

आचार्य तुलसी : बिना दीवारों का मंदिर

समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा

अनुशास्ता की सफलता का प्रमुख सूत्र है—उदारता। स्वार्थ के संकीर्ण एवं एकांगी दायरे से ऊपर उठकर सर्वजनहिताय कार्य करने वाला अपने व्यक्तित्व को व्यापक एवं सर्वांगीण बना लेता है और संकुचित मानसिकता वाला परिस्थितियों को ही समझ नहीं पाता है। वह ऐसे काल्पनिक अवरोध पैदा कर लेता है, जो कि न उसके लिए लाभप्रद होते हैं और न दूसरों के लिए। जिसमें उदात्त शक्ति की कमी होती है, वह पारस्परिक सामंजस्य एवं साहचर्य नहीं बिठा सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी सदैव दूसरों के लिए कार्य करते रहे। उन्होंने अपने 'स्व' का इतना विस्तार कर लिया था कि संपूर्ण जगत उसमें समाविष्ट हो गया। प्राणीमात्र के प्रति कल्याण की भावना उनके रोम-रोम से प्रस्फुटित होती थी। उनके व्यक्तित्व का औदार्य सबको चकित करने वाला था। वे अनेक बार इस अनुभूति को स्वर देते थे—'मैंने यह कभी नहीं चाहा कि मैं अकेला ही आगे बढ़ूं। मेरी अभीप्सा रही है कि मैं आगे बढ़ूं और पूरा समाज भी आगे बढ़े। मेरे हृदय के द्वार सबके लिए खुले हुए हैं। मेरे मन में प्रतिपल-प्रतिक्षण सबके विकास, सबकी जागृति और सबके कल्याण की मंगलभावना रहती है। मैं किसको अपना मानूं और किसको पराया, मुझे तो सभी अपने ही लगते हैं।' इसी विशाल एवं उदार दृष्टिकोण के कारण आचार्यश्री तुलसी संघ व समाज का इतना विकास कर सके। छोटी-से-छोटी चीज का प्रशिक्षण देने में वे अपने बहुमूल्य समय का नियोजन कर देते थे। जबकि इसके लिए किसी पर एहसान या उपकार नहीं जताते थे। मुनि अवस्था में कई बार भाईजी महाराज (मुनि चंपालालजी स्वामी) उन्हें कहते कि इन संतों को पढ़ाने में तुम्हारा सारा समय चला जाता है। तुम्हारा अपना अध्ययन एवं विकास कैसे होगा? वे उत्तर देते थे—'सब अपने ही तो हैं। इनका विकास मेरा अपना विकास है। अध्यापन करना भी स्वयं का अध्ययन ही है।' आचार्य बनने के बाद वे अनेक बार कहते थे कि यदि कोई जिज्ञासु बनकर मेरे खाने और सोने का समय भी चाहे तो मैं सहर्ष प्रदान कर सकता हूं। मैं आराम को बीमारी मानता हूं, अतः मुझे श्रम करने में आनंद आता है।

पावन जन्मोत्सव
12 नवंबर : कार्तिक शुक्ला द्वितीया
हर्षाभिवादन

उत्तर प्रदेश की यात्रा चल रही थी। ठिठुरती सर्दी में रात्रि में ग्यारह बजे के बाद कुछ ग्रामीण पूज्य गुरुदेव के दर्शन करने आए। देहाती भाइयों को जब ज्ञात हुआ कि सवेरे गुरुजी नहर कोठी से रवाना हो जाएंगे तो वे दर्शन की अभिलाषा को रोक नहीं सके और रात्रि में ही आ गए। उनकी आवाज सुनकर सहयात्री जाग गए। उन्होंने देहाती भाइयों को वापस जाने को कहा, लेकिन उनकी बातों को सुनकर गुरुदेव की नींद खुल गई। गुरुदेव तत्काल बाहर पधारे और ग्रामीण भाइयों को दर्शन दिए। कुछ समय उनसे बातें की और मंगलपाठ सुनाया। नींद से बीच में उठाने के कारण ग्रामीण भाई खिन्न थे, लेकिन गुरुदेव की प्रेरणा पाकर वे खुशी से झूम उठे। यात्रा के दौरान ऐसी एक नहीं, सैकड़ों घटनाएं हैं, जब उन्होंने अपने व्यक्तिगत खाने और सोने का समय भी सहर्ष जनता के लिए समर्पित कर दिया।

उदार दृष्टिकोण के कारण पूज्य गुरुदेव दूसरों के विचारों को बहुत महत्त्व देते थे। अनेक बार विरोधी या प्रतिकूल व्यक्ति के विचार में भी उन्हें सार प्रतीत होता और वे उसे स्वीकार करके प्रसन्नता का अनुभव करते। वे कहते थे—'अत्यंत सद्यस्क विचार भी जब सामने आते हैं तो चाहे मैं उन्हें स्वीकारूं या न स्वीकारूं, किंतु खुले दिमाग से उन्हें सुनना अवश्य चाहता हूं।' विरोधी बात को सुनकर भी उत्तेजित न होना, प्रसन्नता से उसे सुनना—बिना उदारता के संभव नहीं है। आचार्यश्री तुलसी कहा करते थे—'चिंतन की स्वतंत्रता सबको होनी चाहिए, अतः विरोधी बातों को भी धैर्य और प्रसन्नता से सुनना चाहिए।'

वे कहते थे—'साधक का आत्मधर्म है कि वह किसी भी बात पर उत्तेजित न हो। जो बात कही जाती है, वह सही ही हो, इस बात से मैं सहमत नहीं हूं, किंतु किसी के द्वारा शालीनता से रखी हुई बात को सुनने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अपने मन की बात स्पष्ट शब्दों में कोई भी कह सकता है।' गुरुदेव की उदारता का हर एक के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था और हर कोई उनके समक्ष अपने मन की ग्रंथियों को खोल देता था।

यह आम बात हो गई है कि राजनीति में एक नेता दूसरे नेता की सफलता मुश्किल से ही सहन कर पाता है। दूसरी ओर पूज्य गुरुदेव अनेक बार इस तथ्य को प्रस्तुति देते थे कि संघ के प्रत्येक सदस्य को आचार्यपद की योग्यता के लायक बनना चाहिए। पद के लिए उम्मीदवार न बनें, इसका अर्थ यह नहीं कि योग्यता भी प्राप्त न की जाए। उदारता के बिना कोई भी व्यक्तित्व अपनी भावी पीढ़ी के लिए अपने से अधिक तेजस्विता एवं गतिशीलता की कामना नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेव ने आचार्यश्री महाप्रज्ञ को अपना आशीर्वाद देते हुए कहा—'मैं अपने जीवन-काल में महाप्रज्ञ को अपने से भी अधिक यशस्वी आचार्य देखना चाहता हूं। इसमें मेरा परामर्श और मार्गदर्शन जहां भी जरूरी समझोगे, वह निश्चित उपलब्ध रहेगा। मेरे इस विसर्जन से मुझे जो यश और ख्याति मिली है, उसमें भी अपने उत्तराधिकारी को मैं सहभागी बनाना चाहता हूं।' साधु-साध्वियों को इस अवसर पर संबोधित करते हुए पूज्य गुरुदेव ने कहा—'सभी साधु-साध्वियां मेरे से भी अधिक विनयभाव, श्रद्धाभाव, भक्तिभाव और अनुशासन इनके प्रति रखें। इस संबंध में पुनः कुछ कहने का अवसर न आए, यह हमारी गौरवमयी परंपरा है।'

चाड़वास मर्यादा महोत्सव पर अकल्पित रूप से प्रेषित निम्नोक्त संदेश में भी उनकी उत्कृष्ट उदार वृत्ति के दर्शन हो रहे हैं—'मेरा मन हर्षातिरेक से आप्लावित है। इस बार मैं दूर बैठा तुम्हारे कर्तृत्व की अनुगूंज सुन रहा हूं। तुम्हें नेतृत्व की असीम ऊंचाइयों पर देख रहा हूं। मुझे बार-बार कहा जा रहा है कि मैं वहां जाऊं। इस दूरी से तुम्हारी सुयशगाथा सुनकर मुझे जिस अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव हो रहा है, उसे मैं ही जानता हूं।' जब लोगों ने उनसे पूछा कि क्या आप लाडनूं में भी मर्यादा महोत्सव मनाएंगे? गुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा—'महोत्सव के रूप में नहीं, वह तो चाड़वास में ही होगा। यहां तो केवल साधु-साध्वियों के बीच मर्यादा-पत्र का वाचन होगा।'

सन् 1965 में कई विद्वान पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में बैठे थे। एक ख्यातिलब्ध विद्वान बोला—'मैं आपके शासन-कौशल पर चकित हूं। इतने समताधर, बुद्धिमान और निस्पृह साधु-साध्वियों पर आप इतना सफल अनुशासन कर रहे हैं।' गुरुदेव ने फरमाया—'इसमें मेरी क्या विशेषता है? संघ में सैकड़ों ऐसे योग्य साधु-साध्वियां हैं, जो सम्यक् प्रकार से संघ चला सकते हैं, फिर भी वे मेरे अनुशासन में रहते हैं और पूर्ण समर्पण किए हुए हैं।' यह उदारता की ही परिणति थी कि पूज्य

गुरुदेव ने स्वयं की विशेषता को साधु-साध्वियों का समर्पण कहकर प्रस्तुत कर दिया।

सुदूर क्षेत्रों की यात्रा के अंतर्गत साधु-साध्वियों की सहनशक्ति का भी वे खुले दिल से उल्लेख करते, जिससे वे यात्रागत हर विषम परिस्थिति को प्रसन्नता से झेल लेते और अग्रिम यात्रा के लिए अपनी मानसिकता बना लेते थे। प्रथम दिल्ली यात्रा के संदर्भ में हुई कठिनाइयों एवं साधु-साध्वियों की सहनशक्ति का उल्लेख मंत्री मुनि को दिए गए पत्र की पंक्तियों में पठनीय है—'रास्ते में तथा राजधानी में गोचरी आदि में साधु-सतियों को जो परीषह सहने पड़े, जैसे दो-दो मील से पानी लाना, जैसा-तैसा पानी, पंद्रह और 18 मील तक का विहार करना, बड़े-बड़े विरोधों को सहन करना आदि। किंतु, साधु-साध्वियों ने बड़ी सहनशीलता का परिचय दिया। आखिर चार तीरथ के सहयोग से ही मैंने कुछ कार्य किया है। इस वर्ष बाहर विचरने वाले साधु-सतियों ने भी जगह-जगह बहुत भारी प्रयास किया है। भविष्य में भी ऐसी ही आशा है।'

एक धर्म-संघ के आचार्य होते हुए भी संप्रदाय की दीवारें उनको बांध नहीं सकीं। उन्होंने स्वयं को तेरापंथ के हित-साधन तक ही सीमित नहीं रखा। साध्वी कनकश्रीजी के शब्दों में उनका जीवन बिना दीवारों का मंदिर था। महावीर अधिकारी ने उनके असांप्रदायिक और उदार व्यक्तित्व को इन शब्दों में आंका है—'मैं कहूंगा कि धार्मिक जगत में आचार्य तुलसी जैसा महापुरुष इस समय कोई नहीं है। अपने संप्रदाय को पोषण देने वाले और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए बहुत-से धर्माचार्य मिल जाएंगे, परंतु आचार्य तुलसी जैसा निर्भीक और दो-टूक बात कहने वाला दूसरा धर्माचार्य शायद ही भारत में हो। शताब्दियों के बाद ऐसे महापुरुषों का आगमन होता है। वस्तुतः आचार्य तुलसी के मार्ग पर चलकर ही भारत शस्त्र-क्रांति से बच सकता है।'

पूज्य गुरुदेव कहा करते थे—'तेरापंथ संघ या संप्रदाय की सीमाएं मेरे सत्य-दर्शन में कहीं बाधक नहीं हैं। मैं इसे मिथ्या अहं मानता हूं कि केवल मेरे संप्रदाय में रहने वालों का ही कल्याण होगा, अन्य का नहीं। मेरी यह आंतरिक तड़प है कि जैन धर्म संकीर्ण दायरे से बाहर निकले और जन-धर्म बने। जब तक मैं अपने जीवन में जैन-धर्म को सभी वर्गों और कौमों में नहीं देख लेता, तब तक मेरी अंतर-पीड़ा शांत नहीं होगी।' पूज्य गुरुदेव ने आह्वान किया कि—'हरिजन-महाजन, गरीब-अमीर, मजदूर-मालिक, हिंदू-मुसलमान सबके लिए अणुव्रत का दरवाजा खुला है।' पूज्य गुरुदेव के उदार चिंतन से प्रभावित होकर पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने कहा—'एक समय था—जब मैं तेरापंथ का कट्टर आलोचक था, पर आचार्यश्री के उदार एवं दूरदर्शी चिंतन द्वारा संपादित व्यापक कार्यक्रमों ने मुझे तेरापंथ का पूरा समर्थक और प्रशंसक बना दिया। तीर्थंकर के समवसरण में जैसे आर्य-अनार्य सबको जाने का अधिकार है, वैसे ही आचार्यश्री ने हर वर्ग और जाति के व्यक्ति को अपने पास आने का अवकाश दिया है। उनके उदार और व्यापक व्यक्तित्व ने सांप्रदायिक सौहार्द का वातावरण निर्मित कर दिया। उनकी उदारता ने ही अन्य धर्मों के आचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट किया है।'

अपने शिष्यों की योग्यता एवं कार्यकौशल को बढ़ाने के लिए उन्होंने उदार मन से अपने शिष्यों को दूसरे स्थानों पर प्रशिक्षण हेतु भेजा। जब गुरुदेव को ज्ञात हुआ कि पूना के पास कैवल्यधाम (लूणावाला) में यौगिक प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था है तो योग-प्रशिक्षण हेतु मुनि किशनलालजी एवं मुनि धर्मरुचिजी को वहां भेजा। इसके पीछे उनका एक ही लक्ष्य था कि धर्मसंघ के हर सदस्य का चतुर्मुखी विकास होता रहे। बिना उदारवृत्ति के ऐसा होना संभव नहीं था। बंबई (मुंबई) में पादरी एच विलियम्स गुरुदेव के पास आकर बोले—'आपकी उदारता ही मुझे आपके पास खींचकर लाई है।' गुरुदेव ने पूछा—'कैसे?' पादरी ने कहा—'जब मैं अपने चर्च में था, तब आपके 30-35 अनुयायी चर्च में आए और बोले—'हम आचार्यश्री तुलसी के शिष्य हैं और आपसे ईसाई धर्म के बारे में कुछ सुनने आए हैं।' उनकी बात सुनकर मैं अवाक् रह गया और सोचने लगा कि क्या कोई धर्माचार्य अपने शिष्यों को दूसरे धर्म के आचार्यों के पास दूसरा धर्म सुनने को प्रेरित कर सकता है? आपकी इसी उदारता से खिंचा हुआ मैं आपके पास आया हूं।'

मद्रास (चेन्नई) में एक मुस्लिम भाई गुरुदेव की उपासना में बैठे थे। वे मक्का की यात्रा करके लौटे थे। बातचीत के दौरान उनके नमाज का समय हो गया। वे स्थान की खोज हेतु इधर-उधर देखने लगे और

बोले—'मैं किसी एकांत स्थान में नमाज पढ़कर आता हूं, फिर आपसे बात करूंगा।' गुरुदेव ने फरमाया—'क्या यहां एकांत नहीं है?' मुस्लिम भाई आश्चर्यचकित हो गया और बोला—'क्या मैं आपके सामने नमाज पढ़ सकता हूं?' गुरुदेव ने मुस्कराते हुए फरमाया—'क्यों नहीं? हम भी देखेंगे कि आप नमाज कैसे पढ़ते हैं? उपासना-पद्धति भिन्न होने पर भी अणुव्रत का मंच सबके लिए अभिन्न है।' पूज्य गुरुदेव अनेक बार अपने मन की भावना व्यक्त करते थे कि केवल जैन या केवल ओसवालों में बोलकर मैं उतना खुश नहीं होता, जितना सर्वसाधारण में बोलकर होता हूं। धर्म को केवल जैनों तक ही सीमित रखने की सोचना धर्म के साथ न्याय नहीं है। मैं तो जहां भी रहूंगा, जो भी मेरे पास आएगा, धार्मिक चर्चा करूंगा—चाहे वह हरिजन, मुसलमान, ईसाई या और कोई भी क्यों न हो?

जाति के आधार पर ऊंच-नीच में बंधे समाज को उन्होंने झकझोरा, प्रेरित किया और समानता की स्थापना की। इसके लिए उन्हें अनेक बार भारी विरोध भी सहना पड़ा। एक गांव में प्रवचन-पंडाल में दरियां बिछाई गईं। थोड़ी दूरी पर कुछ हरिजन भाई भी आकर बैठ गए। उनको देखते ही कुछ जैन भाई उबल पड़े। उनकी आंखों की त्योरियां बदल गईं। अनुचित शब्दों का प्रयोग करते हुए हरिजनों को धक्का देकर बाहर निकाल दिया। स्थिति की जानकारी मिलते ही अध्यापन कार्य छोड़कर गुरुदेव बाहर पधारे और अपनी ओजस्वी वाणी में लोगों को प्रेरणा देते हुए कहा—'गांव में जब सार्वजनिक प्रवचन का आयोजन किया गया है तो किसी को आमंत्रित करना और फिर उनको धक्का देकर बाहर निकालना अपमानजनक बात है। यह मानवता के साथ भी घोर अन्याय है। मेरे व्याख्यान में ऐसा करना उनका ही नहीं, मेरा भी अपमान है। जब पंचायत में दरी में एक साथ बैठने में आप भ्रष्ट नहीं होते तो धर्मसभा में बैठने में भ्रष्ट हो जाते हो—यह चिंतन की रूढ़ता है।' लोगों ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में गलती न करने का संकल्प स्वीकार किया। ऐसी एक नहीं, सैकड़ों घटनाएं हैं जब उन्होंने रूढ़िग्रस्त समाज के मस्तिष्क से जातिवाद का जहर उतारा। धवल समारोह के सार्वजनिक अभिनंदन कार्यक्रम में बोलते हुए लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने कहा भी कि—'मेरा झुकाव व्यक्ति के प्रति नहीं, उसमें निहित मानवता के प्रति रहता है। आचार्यश्री में मैंने मानवता का साक्षात रूप पाया है, अतः मैं उनके प्रति प्रणत हूं।'

अपने उदार दृष्टिकोण के कारण ही पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी अपनी सुख-सुविधा की अपेक्षा दूसरों की सुविधा का अधिक ध्यान रखते थे। सन् 1997 का प्रसंग है। बीदासर के निकट धर्मास गांव में गुरुदेव पंचायत भवन में विराज रहे थे। जनता की अधिकता देख गुरुदेव ने फरमाया—'कुछ समय जनता के पास चलते हैं।' संतों ने कहा—'बाहर धूप तेज है, आपके स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है।' गुरुदेव ने फरमाया—'जनता जब दर्शन के लिए बाट निहार रही है, तब मैं अंदर कैसे रहूं।' तेज धूप होते हुए भी गुरुदेव ने बाहर जनता के बीच बैठकर आनंद की अनुभूति की। जनता भी अपने आराध्य के दर्शन करके निहाल हो उठी। कार्यक्रम के अंत में गुरुदेव ने संतों से कहा—'हमें हर परिस्थिति में स्वयं को ढाल लेना चाहिए।' उम्र के नौवें दशक में अपने अधिशास्ता की इस उदारता पर सभी संत श्रद्धाप्रणत हो गए।

आचार्यपद पर आसीन होते हुए भी वे ऐसी किसी अतिरिक्त सुविधा को पसंद नहीं करते थे जो सबके लिए उपलब्ध नहीं होती। अतिरिक्त विशिष्ट वस्तुओं का प्रयोग करने में उनका मन संकोच एवं बेचैनी का अनुभव करता था। पाली के प्रवास में मुनिश्री नथमलजी (वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) से हुई वार्ता उन्हीं के शब्दों में पठनीय है—'नथमलजी! इस बार मेरा चित्त बहुत प्रसन्न है।' प्रसन्नता के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा—'मेरी अतिरिक्त प्रसन्नता सकारण है। साधु-साध्वियों को सायंकाल उष्ण-आहार और वस्त्र-प्रक्षालन का अवकाश मिलने से सभी को प्रसन्नता हुई होगी। आचार्य होने के नाते मैं सायंकाल में उष्ण-आहार करता, पर साधु-साध्वियों को ठंडा भोजन मिलता। इस बात से मेरा मन बेचैन रहता था। मैंने कई बार ठंडा भोजन करने का प्रयास किया, पर सफलता नहीं मिली। ऊपर से इतना आग्रह और दबाव रहता कि मुझे अपना चिंतन बदलना पड़ता। वस्त्र-प्रक्षालन के संदर्भ में भी इसी प्रकार की स्थिति थी। मेरे पहनने के वस्त्रों का प्रक्षालन किया जाता, पर साधु-साध्वियों को मलिन और पसीने से कड़े हुए वस्त्र ही पहनने पड़ते। मुझे संकोच का अनुभव होता। मैं सोचता कि यह युग साम्राज्यवाद या सामंतशाही का नहीं है। फिर

हमारी व्यवस्था में इतना अंतर क्यों रहे? वह अंतर मुझे बहुत अखरता था। इस वर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर अनेक गोष्ठियों में गंभीर चिंतन के बाद दोनों विधियों में एक सीमा तक साधु-साध्वियों को भी छूट दे दी गई। इससे मेरे मन में जो खुशी हुई है, उसे मैं ही समझता हूं। कुछ और भी बातें मेरे चिंतन में हैं। उनके बारे में भी समय आने पर सोचा जा सकता है।'

आचार्यश्री तुलसी ने अनेक स्थलों पर जोखिम उठा कर भी साधु-साध्वियों के विकास का पथ प्रशस्त किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में— 'सहस्राब्दियों में ऐसे उदारचेता और विकास के पुरोधा इस धरती पर अवतरित होते हैं।' ❖

यदि हम भारत की सांस्कृतिक स्थिति पर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि यद्यपि विविधता में एकता का प्राचीन स्वरूप सुरक्षित है, किंतु एकता के आधारभूत रंग, धूमिल पड़ गए हैं और विविधता के सतही रंग अधिक उभर आए हैं। यदि हम समान आधारभूत बातों पर और अधिक जोर देते हुए, शीघ्र उस स्थिति को वापस लाने के लिए परिश्रम नहीं करते, तो मूल स्वरूप का कोमल भावुकतापूर्ण संतुलन हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है।

अब हम सांस्कृतिक एकता के लिए सभी अनुकूल और प्रतिकूल शक्तियों का आकलन करें, जो क्रियाशील हैं, और देखें कि अनुकूल शक्तियों को पुनः वापस लाने और प्रतिकूल शक्तियों को रोकने के लिए क्या किया जा सकता है।

प्रतिकूल तथ्यों से प्रारंभ करने पर हम देखते हैं कि सांस्कृतिक एकता में सबसे प्रमुख रुकावट है विविध भाषाएं। जब यह कहा जाता है कि भारत में चार विभिन्न भाषाओं के परिवार में 14 क्षेत्रीय भाषाएं और अनेक बोलियां हैं, तब विदेशियों को मानना पड़ता है कि भारतीय एक नहीं हैं, बल्कि योरोप के निवासियों की भांति कुछ समान तत्त्व प्रदर्शित करते हुए, विभिन्न संस्कृतियों के साथ लोगों का एक रंग-बिरंगा समुदाय है। जैसा कि हमने देखा है कि यद्यपि भारत में भाषाओं की विविधता उतनी अधिक है जितनी योरोप में और पोशाक, भोजन तथा रहने के सामान्य तरीकों से विविधताएं और भी अधिक हैं, किंतु आध्यात्मिक एवं भौतिक विचारों के समुदाय तथा सामाजिक प्रथाओं ने भारत को एक आंतरिक एकात्मकता दी है, जिससे योरोप अपरिचित है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषायी बाधाओं के कारण भारत के विभिन्न भागों के लोग धर्म को छोड़कर सभी स्तरों पर साधारण तथा तुलनात्मक रूप से अजनबी के रूप में मिलते हैं। जब तक कि वे अंग्रेजी या हिंदी नहीं जानते, अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लोग अपनी भाषा के क्षेत्र के बाहर अपनी बात समझा सकने में बहुत अधिक कठिनाई महसूस करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि वे नयी जगह पर कुछ समय बिताते हैं तो स्थानीय भाषा का काम चलाऊ ज्ञान हो जाता है, किंतु समान धार्मिक आस्थाओं तथा सामान्य विचारों की पृष्ठभूमि के होते हुए भी वे अपने आस-पास के लोगों के घनिष्ठ संपर्क में नहीं आ पाते, क्योंकि गहरे विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक समान भाषा का माध्यम नहीं है। इसलिए जब तक कि एक संपर्क भाषा नहीं होती और संपूर्ण देश में उसका प्रचलन नहीं होता तब तक एक प्रभावशाली सांस्कृतिक एकता संभव नहीं है।

— एस. आबिद हुसैन

कुदसिया बाग कश्मीरी गेट के पास ही है। स्कूल से फारिग होने के बाद दोनों सहेलियां कुदसिया बाग के निकट 'पशु निर्दयता निवारण संघ' के कार्यालय गईं। वे सीधे पशु चिकित्सा समाज की ओर बढ़ीं। वहां पर गंजे सर वाला, मोटे फ्रेम का चश्मा लगाए, एक चुस्त-दुरुस्त युवा अधिकारी विराजमान था। उसकी ठुड्डी पर थोड़ी-थोड़ी दाढ़ी भी थी। वह इनसे बोला—'घायल हो गए पशुओं को यहां उठाकर लाना हमारा काम नहीं। लेकिन, आप जैसे शिक्षित लोग अगर हमें इत्तला दें, तो उन्हें उठाने के लिए जरूर गाड़ी भेजेंगे। ....पर यह हमारी जिम्मेदारी नहीं है। यह जिम्मेदारी मुख्य रूप से नगर निगम की है।'

हिम साम्राज्ञी

मामोनी रायसम गोस्वामी

कहानी

सीतादेवी ने ऐसा कभी सोचा भी नहीं था कि पुरानी दिल्ली की सड़कों पर गाड़ियों के साथ-साथ गऊएं भी घूमती मिल जाएंगी।

एक दिन वह घंटाघर के निकट भीड़-भड़क्के वाले चौराहे को पार करने की कोशिश कर रही थी। एक तो बसों की भरमार, फिर तरह-तरह की गाड़ियां, तांगे, रिक्शा, पैदल चलने वाले—इन सबकी वजह से चौराहा पार करना उतना ही दुश्वार हो गया था जितना दिल्ली में किसी नए-नए आने वाले के लिए हो सकता है।

जिस समय वह लोगों में फंसी खड़ी थी, उसे एक विचित्र दृश्य देखने को मिला—लोगों के साथ-साथ दो सांड भी सड़क पार करने के इंतजार में थे। सीतादेवी ने इतने बड़े पशु पहले कभी नहीं देखे थे। उनके कान खड़े थे, ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे लोगों से कंधा रगड़कर निकलने को उतावले हो रहे थे। सीतादेवी को घंटाघर की दो सड़कें पार करने और अंबा सिनेमाघर के बगल वाली सड़क तक पहुंचने में बीस मिनट लग गए। यह सड़क सिंहसभा सड़क में जा मिलती थी।

लेकिन सांडों वाला जो दृश्य देखा था, उससे वह ठगी-सी रह गई। सांड भीड़ में से होते हुए उससे कहीं आगे निकल गए थे और डोमर्स नाम के रेस्तरां को पार करते हुए काफी आगे बढ़ गए थे। इतना ही नहीं, सड़क के बीचोबीच, जहां गाड़ियों का जमघट था, वहां और भी कई सांड तथा कुछ बड़े-बड़े कूबड़ वाले बैल भी बैठे हुए थे।

सीतादेवी कश्मीरी गेट की एक कन्या पाठशाला में पढ़ाती थी। वह फर्रुखाबाद की रहने वाली थी और अपनी एक साथी, स्नेहलता के साथ, सिंहसभा मार्ग के गुरुद्वारा के निकट एक बरसाती में रहती थी। बरसाती में एक मेस (पकवान घर) चलता था। दिल्ली विश्वविद्यालय के इर्द-गिर्द बिखरे हुए विद्यार्थियों के लिए मेस में रहना एक आम बात हो गई थी। और, युवतियों को तो वह विशेषकर बहुत सुविधाजनक लगता था। तीमारपुर तथा सरायरोहिला के निकट असम से आए विद्यार्थियों की एक अच्छी-खासी संख्या थी। बिहार, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश की लड़कियों को जब कॉलेज के. हॉस्टलों में जगह नहीं मिली, तो उन्होंने बरसातियों और मियानियों में अपना डेरा जमा लिया। उन्होंने शारीरिक कष्ट झेलना सीख लिया था और उनमें से कुछ को तरह-तरह के अनुभव भी हुए थे।

सीतादेवी और स्नेह की पाठशाला यमुना के किनारे स्थित थी। उन्हें वहां पहुंचने के लिए रोशनआरा रोड से कश्मीरी गेट तक की बस लेनी होती थी। बस कभी-कभी बंगलो रोड से भी होकर जाती। कभी-कभी यह

विश्वविद्यालय के बगल वाला रास्ता लेकर माल रोड और निकलसन कब्रिस्तान होती हुई बस-अड्डे की ओर बढ़ती। वे कभी बस-अड्डे पर उतर जातीं, कभी निगमबोध घाट पर। रोशनआरा रोड से बस-अड्डे तक सीतादेवी को सड़क पर जितनी भी गऊएं दिख जातीं, वह उनकी गिनती करने की कोशिश करती। उसने एक समाचार-पत्र को मुख्य मार्गों पर आवारा तथा बेरोक-टोक घूमते पशुओं के बारे में पत्र भी लिखे थे और सुझाव दिया था कि नगर निगम इन भटकते पशुओं की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले और उन्हें संभाले, पर उसके ये पत्र छपे ही नहीं। गऊओं की दुर्दशा से उसका दिल पसीज जाता था। उसे यह कतई उम्मीद नहीं थी कि भारत की राजधानी में उसे ऐसे दृश्य भी देखने को मिलेंगे।

रोशनआरा रोड से माल रोड तक, बल्कि थोड़ा आगे ब्रिटिशकाल के मिलिट्री प्रेस तक, गऊएं-ही-गऊएं दिख जाती थीं। ताज्जुब था कि वे इस तरह सड़क के बीचोबीच नांगिया पार्क से रोशनआरा पुलिस स्टेशन तक बैठी रहती थीं। फिर हमेशा यही खतरा बना रहता था कि कोई गाड़ी उनकी दुम या टांग पर से होती हुई न निकल जाए। वैसे गाड़ियां उनसे थोड़ा-बहुत तो टकराती ही थीं और पैदल चलने वालों की ठोकरें भी उन्हें लगती ही थीं, जिन्हें वे वीतरागी बनी सहती रहती थीं। वहां अपने बछड़े के साथ एक सफेद गाय उसे अक्सर दिख जाती। उसे देखने की वह आदी हो गई थी।

एक दिन बस में बैठी सीतादेवी गऊओं की गिनती करती रही और जब तक वह बस-अड्डे पर उतरी, उसने जान लिया कि उनमें तीन घायल सांड भी हैं।

एक सांड के सींगों से खून बह रहा था। दूसरे के खुर किसी छकड़े के पहियों से अलग हो गए थे और घाव पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। भूरे रंग के एक और सांड के खुरों पर से भी शायद कोई कार निकल गई थी। खून से सनी अपनी टांग को वह मुश्किल से उठाता हुआ, लंगड़ा कर भीड़-भरी सड़क को पार करने की कोशिश कर रहा था। इस तरह का दृश्य देखकर सीतादेवी के दिल में जैसे एक नश्तर चुभ गया। चाहे वह अपनी कक्षा में हमेशा की तरह पढ़ाती रही, पर वह बराबर गहरे सोच में डूबी रही।

चार बजे जब वह पाठशाला से लौट रही थी, उसे वे घायल पशु फिर दिख गए। उनके शरीर पर हर कहीं खून-ही-खून था—सींगों में, टांगों में, खुरों में।

··· सीतादेवी जब घर पहुंची तो उसने बारजे में एक चारपाई बिछा ली। फिर वह भीतर गई और एक कागज का टुकड़ा तथा पेन उठा लाई। पशुओं की हालत अब भी उसे मथ रही थी। वह ज्यों-की-त्यों उसके मन में बसी हुई थी।

क्या उसके सींगों पर खून था?

खुरों पर खून था?

··· क्या वह फिर पत्र लिखे? अखबार वाले ऐसे पत्रों को तब तक छापने की जहमत नहीं उठाते जब तक कि आपका वांछित संपर्क न हो। क्या गऊओं के बारे में लिखा, इसलिए? क्या सभ्य मानव-समाज का अपना कोई दायित्व नहीं?

दिसंबर का महीना था। संध्या अभी उतर ही रही थी, लेकिन धूल, धुआं और धुंध ऐसे छाए हुए थे जैसे दिल्ली ने भारी ओढ़नी ओढ़ रखी हो। अपनी छत से वह चारों ओर फैली एक प्रकार की हलकी-नीली धुंध देख सकती थी। सड़कों की बत्तियां जल उठी थीं, पर ओढ़नी की वजह से वे किसी ग्रामीण की झोंपड़ी की छत पर सूखे हुए कद्दू की तरह दिख रही थीं। जी.टी. रोड से घंटाघर होकर सब्जी मंडी की तरफ जा रही बसों का तांता अब कम होता जा रहा था। सिंहसभा रोड की बरसातियों में रहने वाले लोगों की तरह सीतादेवी भी इन वाहनों के शोर की आदी हो चुकी थी। शुरू-शुरू में तो उसे ऐसे शोर में पढ़ना मुहाल हो जाता, पर अब वह इसे बर्दाश्त करना सीख गई थी। वह दिल्ली के विषम और भीषण पर्यावरण के बीच ऐसे ही रच-बस गई थी जैसे कि वह किन्हीं दुष्ट मुंशियों की कारगुजारियां सह लेती थी।

उस उलझाने वाली लालिमा के बीच उसे एकाएक कुछ सफेद-सी रोशनी की झलक दिख पड़ी। नहीं, वह रोशनी नहीं थी। वह तो सफेद मिकी गाय थी। वह जी.टी. रोड के बड़े चौक पर मुड़ी होगी और वहां से उछलती-कूदती सिंहसभा रोड पर आ गई होगी। उसका बछड़ा भी उसके पीछे-पीछे चला आया होगा। कितना सुंदर दिख रहा था वह बछड़ा। उसके शरीर पर किसी तरह का कोई दाग नहीं था। सीतादेवी ने पहले कभी इतनी सफेद गाय नहीं देखी थी। ··· नहीं, कभी नहीं देखी थी। वह बरसाती के नीचे कूड़े के ड्रम के पास आकर खड़ी हो गई थी। ड्रम का कुछ हिस्सा गायब था। उस गायब हिस्से में से जो गऊएं अपने को सिकोड़ कर ड्रम के भीतर हो लेती थीं, वे वहां से हटने का नाम नहीं लेती

थीं। वह ड्रम प्रायः भरा रहता था गेहूं की भूसी से, बेकार हो गई हरी सब्जियों से, सिंहसभा रोड पर रहने वाले परिवारों के कचरे से।

गाय ड्रम के पास खड़ी होकर उसके चारों ओर सूंघने लगी। सीता यह अनुमान न लगा सकी कि वह सूंघ रही है या जुगाली कर रही है। धुंध के बावजूद वह अपनी छत से गाय को साफ देख सकती थी। वाकई, ऐसी विचित्र सफेदी उसने पहले कभी नहीं देखी थी। ... चांद की रोशनी में तथा सड़क की बत्तियों से आने वाली रोशनी में, जो धुंध और धुएं में से छनकर आ रही थी, वह रंग और भी विलक्षण लग रहा था।

सीता के मुंह से एकाएक निकल पड़ा—हिम साम्राज्ञी!

ओ हिम साम्राज्ञी, मैं तुझे छूना चाहती हूं।

हिम साम्राज्ञी गोल चक्कर के निकट, एक बत्ती के खंभे के नीचे सरकने से पहले, कुछ देर तक कूड़े के ढेर को बार-बार सूंघती रही।

एक दिन दोनों सहेलियां जब 240 नंबर की बस से यात्रा कर रही थीं, तो उन्होंने नांगिया पार्क के पास एक घायल सांड को लुढ़के पाया। उसका खुर फट चुका था और वहां फैले हुए खून पर ढेरों मक्खियां जमा थीं।

वह अपनी सहेली स्नेह से कहे बिना रह न सकी, 'यह पशु इन ऊंची-ऊंची इमारतों में रहने वाले लोगों की आंखों के सामने लुढ़का पड़ा है। अगर इन्होंने नगर निगम को इत्तला कर दी होती तो वे अभी तक इसे ले गए होते।'

स्नेह का उत्तर भी वैसा ही था—'जब लोग पटरी पर चलने वाले घायलों को देखकर अपना मुंह मोड़ लेते हैं, तब वे एक सांड की चिंता क्यों करेंगे?'

सीता अपनी रौ में थी—'हम, दरअसल, पशु ही बन गए हैं।'

अपनी सहेली की इस टिप्पणी पर स्नेह चुप ही रही। पर सीता ने मन-ही-मन तय कर लिया था कि स्कूल से लौटकर वह नगर निगम को फोन करेगी।

कुदसिया बाग कश्मीरी गेट के पास ही है। स्कूल से फारिग होने के बाद दोनों सहेलियां कुदसिया बाग के निकट 'पशु निर्दयता निवारण संघ' के कार्यालय गईं। वे सीधे पशु चिकित्सा समाज की ओर बढ़ीं। वहां पर गंजे सर वाला, मोटे फ्रेम का चश्मा लगाए, एक चुस्त-दुरुस्त युवा अधिकारी विराजमान था। उसकी ठुड्डी पर थोड़ी-थोड़ी दाढ़ी भी थी। वह इनसे बोला—'घायल हो गए पशुओं को यहां उठाकर लाना हमारा काम नहीं। लेकिन, आप जैसे शिक्षित लोग अगर हमें इत्तला दें, तो उन्हें उठाने के लिए जरूर गाड़ी भेजेंगे। ... पर यह हमारी जिम्मेदारी नहीं है। यह जिम्मेदारी मुख्य रूप से नगर निगम की है।'

उसके उत्तर से दोनों सहेलियों का उत्साह बढ़ गया—'तब तो आपको चाहिए कि आप फौरन गाड़ी वहां भेजें।'

इस पर सीता बोली—'घायल गाय वहीं पड़ी होगी। क्या मैं नगर निगम को यहीं से फोन कर सकती हूं?'

'जरूर... जरूर। ये हैं वहां के नंबर। मेरा खयाल है, रुस्तम पाशा ऐसे मामलों को देखता है।'

उन्होंने वहां से उन नंबरों को मिलाने की जी-तोड़ कोशिश की, पर रुस्तम पाशा नाम का अधिकारी अपनी सीट पर था ही नहीं। आमतौर पर वह वहां बहुत कम होता था।

गंजे सर और थोड़ी-थोड़ी दाढ़ी वाले अधिकारी पर दृष्टि डालते हुए सीता ने कहा—'आप यहां किसी दुर्घटना में घायल हुई गऊओं की देखभाल करते हैं। पर, जब उनके मालिक उन्हें वापस लेने से इनकार कर दें, तब तो आप उन्हें फिर सड़कों पर खुला छोड़ देते होंगे?'

अपनी दाढ़ी में अपनी उंगलियां फिराते हुए अधिकारी बोला—'नहीं, नहीं, हम ऐसा कुछ नहीं करते। जुर्माना देकर इन गऊओं को कांजी हाउस से छुड़वाया जा सकता है। यह जुर्माना काफी तगड़ा होता है। पर, आजकल मालिक लोग इतना तगड़ा जुर्माना चुकता करने की बजाय उन्हें सड़क पर ही पड़े रहने देना पसंद करते हैं। गऊओं के ठीक हो जाने पर जब मालिक नहीं आते तो हम यमुना के किनारे बनी गऊशाला में उन्हें भेज देते हैं।'

उन्होंने सराय कालेखां से गाड़ी के लौटने का लगभग एक घंटे तक इंतजार किया। फिर अधिकारी की बात से आश्वस्त होकर वे लौट पड़ीं। अधिकारी ने उनसे कहा था—'मैंने आपका पता लिख लिया है। जैसे ही गाड़ी आती है, मैं उसे भेज दूंगा।'

कुछ देर तक वे कुदसिया बाग में टहलती रहीं। वहां टहलना उन्हें अच्छा लगता था। वहां कई पुराने खंडहर थे। अगर पाठशाला किसी राजनीतिक नेता के अप्रत्याशित निधन के कारण या ऐसे ही किसी अन्य कारण से बंद हो जाती, तो सीता स्नेह के साथ, या अकेली ही, वहां टहलने चली आती। वह निकलसन कब्रिस्तान या 'सेंट जेम्स चर्च' में भी चली जाती। भीड़-भड़क्के वाली सड़कों के कारण ऐसी जगहों पर पहुंचना आसान नहीं था। क्या उजड्ड लोगों की भीड़ ने शाहआलम द्वारा एक सौ पचास साल पहले बनवाए गए दिल्ली गेट के एक हिस्से को नष्ट नहीं कर दिया था? कर्नल जेम्स द्वारा तैयार करवाए गए गिरजाघर की दीवारों पर 'हिम्मते मरदां, मददे खुदा' लिखा हुआ था। यह वही कर्नल जेम्स था जिसने स्कर्नर हार्स रेजिमेंट की अगुआई की थी। सीता ने यह भी सुन रखा था कि यह अधिकारी अपने आखिरी दिनों में अपराध-बोध से पीड़ित था, क्योंकि उसने युद्ध में विरोधी सैनिकों की लाशों-पे-लाशें बिछा दी थीं। उसने वह गिरजाघर अपने ही पैसों से खुद तैयार करवाया था… और कुदसिया बाग? सैनिक विद्रोह के दौरान फिरंगियों ने यहां अपनी तोपें गाड़ी थीं और कश्मीरी गेट पर खूब गोले बरसाए थे। अपनी बस में वहां से गुजरते हुए उसे हमेशा यही लगता कि वह कुछ अदृश्य तोपों के सामने खड़ी है और वे तोपें गोले छोड़ने को तैयार हैं।

उस बाग में कुछ देर तक टहलते रहने के बाद, वह और स्नेह बस-अड्डे की दिशा में बढ़ीं। सीता पशु निर्दयता निवारण संघ की गाड़ी का इंतजार करना चाहती थी, लेकिन स्नेह के पास ज्यादा वक्त नहीं था।

स्नेह वक्त पर ही लौट आई थी। खाना खा चुकने के बाद वे दोनों छत पर ही टहलने लगीं। टहलते-टहलते सीता एकदम बोल पड़ी—'चलो, चलकर देखें, गाय को नगर निगम या पशु निर्दयता निवारण संघ वालों ने उठाया है या नहीं? गाड़ी तो आई ही होगी।'

स्नेह कतरा गई। पर अपनी मित्र के दिल को ठेस पहुंचाना भी नहीं चाहती थी। उसने तुरंत अपना ओवरकोट पहन लिया। फिर उसने घुटनों तक की जुराबें चढ़ा लीं और सैंडल उतारकर उनकी जगह भारी शूज कस लिए। सीता ने भी अपना कोट और जूते पहन लिए, और अपने कानों और सर को मफलर से ढंक लिया। स्नेह का दिमाग तो और भी ऊंचा था। उसने सर पर ऊनी टोपी लगा ली। सिंहसभा रोड पर युवतियां ऐसी ही टोपी लगाती थीं।

गोल चक्कर के पास पहुंचीं तो वे दंग रह गईं। पान की दुकान पर काफी लोग थे। अलबत्ता, कुछ दुकानें बंद हो गई थीं और उनके सामने खटिया बिछाकर कुछ लोग सोने की तैयारी में थे। दो कुत्ते एक हड्डी पर लड़ रहे थे। सामने एक सीढ़ी पर, जिसका पलस्तर हट चुका था, सिंहसभा रोड का एक जाना-माना पात्र मंदबुद्धि छोटेलाल बैठा था। उसके बाल जटाजूट हो रहे थे। वह कभी अपने फटे कोट के नीचे कमीज पहने होता, कभी वैसे ही होता। उसके कोट की ऊपर की जेब में एक कलम लगी रहती। कोट का रंग बता पाना बहुत मुश्किल था। उसकी रबड़ की चप्पलें इतनी खस्ताहाल थीं कि उनके नीचे से उसके पैर के तलवे दिख पड़ते। जब उसने सीता और स्नेह को दुकान के पास से गुजरते देखा तो वह भी उनके पीछे-पीछे चला आया।

बिजली के खंभे के निकट पहुंचते ही सीता एकाएक बोल उठी—'लेकिन गाय तो यहां है ही नहीं।'

दूध के बूथ के पास एक सिपाही अपने भारी-भरकम ओवरकोट और उतने ही भारी जूते पहने जैसे कि किसी के इंतजार में था। सीता उससे बात करना चाहती थी, पर स्नेह ने उसका हाथ थाम लिया। 'नगर निगम की गाड़ी उसे जरूर ले गई होगी। इतनी कड़ाके की सर्दी में अब हमें यों ही भटकना नहीं चाहिए।'

'बेवकूफ, एम.सी.डी. की गाड़ी नहीं आई।'

एकाएक उन्हें एक चीख सुनाई पड़ी। वे फौरन मुड़ीं। मंदबुद्धि छोटेलाल बिजली के खंभे के नीचे खड़ा अपनी उंगली हिला-हिलाकर कह रहा था—'मुझे मालूम है, गाय कौन ले गया है। उस आदमी को मैं पहचान सकता हूं।'

हमेशा की तरह बातूनी स्नेह से रहा न गया। बोली—'उसका हुलिया कुछ तो बयान करो।'

छोटेलाल ने उत्तर दिया—'अरे भाई, फटी हुई कमीज पहने था। पाजामा सादा था। पांवों पर रबड़ की चप्पलें बिल्कुल घिसी हुई थीं। जैसे ही उस लंगड़ी गाय ने उसे देखा, वह बुरी तरह घबरा गई। वह बहुत डरी हुई थी… लगता था जैसे कि उस आदमी को उसने पहचान लिया है और उसके मन के भावों को उसकी आंखों से

जान लिया है··· वाहे गुरु, सतश्री अकाल, सतश्री अकाल··· ' फिर वह अपनी एड़ियों पर घूम गया। उसकी चप्पलें दूर जा गिरीं।

स्नेह को इससे भी संतोष नहीं हुआ। बोली—'अरे भाई, वह गाय तो जख्मी थी। चलने लायक भी नहीं थी।'

छोटेलाल अब लंगड़ाता हुआ उनकी ओर बढ़ा और फिर ऐन उनके सामने खड़ा हो गया। उसने उस शिकारी की तरह, जो अपनी बंदूक से अपने शिकार पर निशाना साधता है, अपनी उंगली से स्नेह को अपना निशाना बनाया और चीखता हुआ बोला—'अरे भाई, यही तो उसका दुर्भाग्य था। लगता है, उस जालिम ने कहीं नजदीक ही छोटा ट्रक खड़ा किया हुआ था। पांच मिनट में ही वह ट्रक गायब हो गया··· सड़क की बिजली भी उस समय गायब थी। उसको बहुत मदद मिली।'

सीता अब तक चुप थी। वह चीख पड़ी—'वह कौन था?'

छोटेलाल ने फौरन उत्तर नहीं दिया। पहले की तरह ही अपनी उंगली से बंदूक का काम लेते हुए और उसे युवतियों पर तानते हुए बोला—'लगता है, वही कसाई है। रास्ते की गऊएं उसे अच्छी तरह पहचानती हैं।'

'कसाई? कसाई कहा?'—वे दोनों ही एक साथ चीख पड़ीं।

सीता चाहती थी कि वह थोड़ा आगे बढ़कर दूध वाले बूथ के पास आग सेंकते ओवरकोटधारी सिपाही से कुछ बात करे, पर स्नेह ने उसे रोक लिया—'नहीं, नहीं; कोई फायदा नहीं। वह तुम्हें नहीं बता पाएगा कि गाय कौन ले गया है?'

··· आहिस्ता, आहिस्ता, लेकिन बिल्कुल खामोश, वे वापस मुड़ीं। तंदूर से उठता धुआं और कोहरा, दोनों मिलकर चारों ओर हलकी धुंध फैला रहे थे।

जैसे ही वे रोशनआरा रोड को पार करके सिंहसभा रोड की ओर बढ़ीं, उन्हें अपने बछड़े के साथ वह दूधिया सफेद गाय, हिम साम्राज्ञी, दिख गई। मां और बेटा कूड़े के डिब्बे के पास बैठे जुगाली कर रहे थे··· वहां केवल वह हिम साम्राज्ञी ही नहीं थी, थोड़ा हटकर रोशनआरा गार्डन के गेट के पास जुगाली करती कितनी ही आवारा गऊएं थीं। रोशनी में वे साफ दिख रही थीं। उनमें तीन के आकार काफी बड़े थे—यानी दो सांड थे और एक बैल था। उन सांडों को छोड़कर बाकी सब भस्मी रंग की थीं। सांडों का रंग 'मूंगा' रेशम जैसा था और उनके बदन पर गोबर के छींटे थे। जैसे ही वे उनके और नजदीक हुईं, उन्होंने देखा कि उनमें से कुछ की पुश्त पर मुहर दागी हुई है। नगर निगम वाले शायद उन्हें कांजी हाउस ले गए हों। मालिकों ने जुर्माने की रकम अदा करके उन्हें शायद छुड़वाने की कोई कोशिश की ही न हो, या उन्हें छुड़वाकर फिर खुला छोड़ दिया हो।

सीता का दिल अभी तक धड़के ही जा रहा था। बुरी तरह। स्नेह के हाथ को अपने हाथ में लेकर उसने एक अजीब सवाल कर डाला, 'क्या छोटेलाल के शब्द सच हैं?'

स्नेह ने कोई उत्तर नहीं दिया। ❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

विनोदकुमार शुक्ल की कविताएं

यह अनंत अंत का दौर

यह अनंत अंत का दौर
आत्मसात के गांव में
आत्मसात का ठौर।

आत्मसात का बार-बार
अब की बार, अगली बार
इस बार—
हर बार का दौर
हर बार के इस गांव में
हर बार का ठौर।

मिलने और बिछड़ने के पहले
बस इतना जीवन
इस जीवन का और
एक साथ के इस गांव में
एक साथ ठौर!

•

दरवाजा नहीं था मंदिर में

दरवाजा नहीं था मंदिर में
पत्थर के चौखट में दरवाजे का निराकार था।

इस निराकार दरवाजे के अस्पष्ट बंद या खुले को
मैं स्पष्ट खोलता हूं।

बहुत देर लगा दी—उसने कहा।
वह मेरी सदैव प्रतीक्षा में खड़ी स्थापित थी।

तब देर से आने की सदैव कथा कहता हुआ
कत्थक की एक मुद्रा में
उसके दाहिने आकर मैं
सदैव स्थापित
खड़ा हो गया—
उसकी सदैव प्रतीक्षा के दाहिने सदैव आया हुआ।

मंदिर का एक सदैव घर था।

•

कितना-सारा गंतव्य

कितना-सारा गंतव्य
निकल पड़े का जीवन
बल्कि कितनी जगहें, लोग, दूर-दूर की दूरी
दूर-दूर का पास-पड़ोस।

पांच जगह नहीं होने के
मेरे पांच एकांत।
पांच जगह होने के
मेरे पांच गंतव्य।
बल्कि कई जगह नहीं होने की
मेरे एकांत की भीड़।
इन एकांतों की भीड़ के आगे
गंतव्यों की भीड़
बल्कि गंतव्यों का जुलूस
बल्कि इसके पीछे
अकेला पीछे।

बल्कि एक जगह होने के एक एकांत से
जगह-जगह होते जाने का पंख पसार
बल्कि बांह पसार।

❖❖

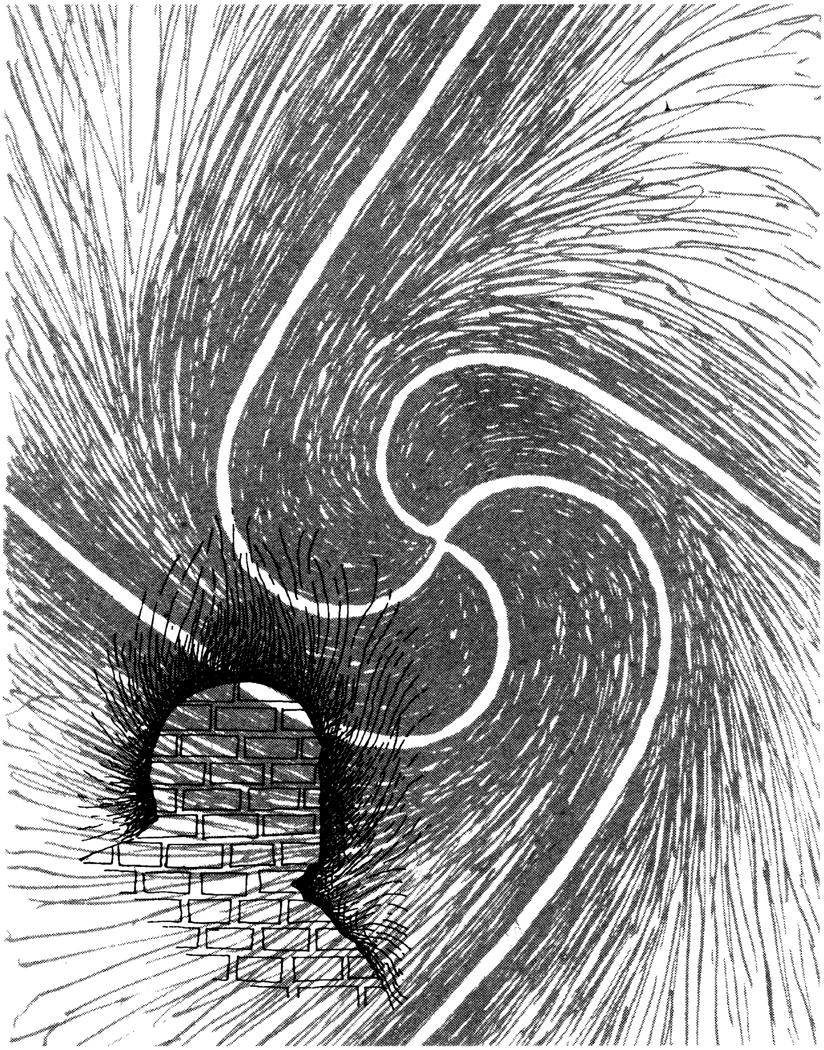

शीलन

पराजय की दशा में हर समाज में तरह-तरह से बिखराव आता है, टूटन आती है, हीनता आती है, विकृतियां आती हैं। फिर साधना और तप से, समझ और पुरुषार्थ से समाज पुनः स्वस्थ हो सकता है तथा उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। पराजय, विकृति या रोगों को ही स्मरण करते रहना स्वास्थ्य-लाभ में बाधक बनता है। उसका निदान कर लेना पर्याप्त है। फिर उसके प्रभावों को दूर करने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विगत का शोक और हीनता का भाव समाज को स्वस्थ होने देने के मार्ग में बड़ी बाधा है।

—**धर्मपाल**

वस्तु को जब भी समझना होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार संदर्भों को ध्यान में रखकर ही समझ सकते हैं। अनुभव के अनेक कोण हैं। प्रत्येक कोण पर खड़ा आदमी सही है। भूल वहां होती है जब वह अपने ही कोण को सर्वग्राही बनाना चाहता है। स्याद्वाद अनंत दृष्टि-बिंदु का निष्पक्ष संग्राहक है।

स्याद्वाद की उपासना, निष्पक्षता की उपासना है। निष्पक्ष व्यक्ति का जीवन समतल भूमि पर विचरण करने जैसा है। जबकि पक्षाग्रही या एकांतवादी का जीवन बाधायुक्त दौड़ के समान है। मताग्रही अपने ही पक्ष की पैरवी करता है। इससे आदान-प्रदान की दिशा बंद हो जाती है। नए प्रकाश और सौंदर्य के पर्यविक्षण तथा जीवन के अलौकिक आनंद से वंचित रह जाता है।

अनेकांत : समन्वयवादी जीवन-दर्शन

साध्वी नगीना

सत्य अनंत है। उसे देश-काल एवं संप्रदाय की चौखट में बंद नहीं किया जा सकता। अनेक स्वरूपात्मक सत्य को अनेक कोणों से समझना-करना अनेकांत है। अनेकांत, यानी वस्तुस्थित अनंत धर्मों को समझने की एक आग्रहहीन पद्धति, अर्हत दर्शन का आधार।

विश्व में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक विचार अनंत धर्मात्मक हैं। उनकी व्याख्या भी एक दृष्टि से नहीं कर सकते। व्याख्याता और शब्द—दोनों की शक्ति सीमित है। व्याख्याता अनंत की व्याख्या करने में असमर्थ है, तो शब्द भी एक समय में एक ही अर्थ की यात्रा करता है। ऐसी स्थिति में अपेक्षा है ऐसे सेतु की, जो विरोधी युगलों की अभिव्यक्ति दे सके। अनेकांत वस्तु की सापेक्षता का चिंतन करता है।

भगवान महावीर परिनिर्वाण
कार्तिक अमावस : 9 नवंबर
श्रद्धा-स्मरण

विचार जगत का अनेकांत जब वाणी के धरातल पर उतरता है तब स्याद्वाद शब्द से अभिहित किया जाता है। स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टिकोण। वाद का अर्थ है—सिद्धांत या प्रतिपादन। दोनों का समवाय स्याद्वाद है। किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना का अपेक्षा से कथन करना स्याद्वाद है।

दर्शनशास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि अनेक धर्म सापेक्षिक हैं। वस्तु के दो पहलू हैं—नित्यत्व, अनित्यत्व। ध्रुवता पर दृष्टि होती है तब शाश्वत सौंदर्य साक्षात होता है। पर्याय-परिधि पर वस्तु का परिवर्तित रूप नजर आता है। आचार्य हेमचंद्र के शब्दों में अभेदगामिनी दृष्टि से वस्तु का अखंड रूप बनता है। भेदगामिनी से परिवर्तित रूप। भेद-दृष्टि से एक आत्मा के अनेक पर्याय बन जाते हैं।

उपनिषद के अनुसार—'तदेजति, तन्नेजति, तद्दूरे-तदन्तिके'—आत्मा चलता है, नहीं भी। दूर है, पास भी। सबके अंतर्गत है, सबके बाहर भी। ऐसे विरोधाभासी शब्द सहज श्रद्धागम्य नहीं होते। पाश्चात्य विचारक आर्थर कोएसलर ने ऐसे वक्तव्यों को अर्थहीन बताकर उपहास किया है। इन्हें तर्कहीन माना है। अरस्तु ने भी कहा—जन्म और मृत्यु जैसे विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। जबकि अनेकांत की भाषा में जन्म और मृत्यु एक ही जीवात्मा के दो पहलू हैं। मृत्यु अवश्यंभावी है। जहां मृत्यु है, वहां जन्म भी है। दोनों भिन्न नहीं हैं।

इसी प्रकार पदार्थ नित्यानित्य है। पदार्थ-पदार्थत्व

की दृष्टि से नित्य, पर्याय से अनित्य है। नैयायिक सिद्धांत में आकाश नित्य है, दीपक अनित्य, क्योंकि अंधकार स्वतंत्र पदार्थ न होकर अभ्रस्वरूप है। वस्तु को एकांत नित्य मानने से अर्थ-क्रियाकारित्व सिद्ध नहीं होता। अतः नित्यानित्य मानना ही न्यायसंगत है। अपने अस्तित्व घटकों की अपेक्षा वस्तु सत् है तो स्व से भिन्न अवयवों से घटित नहीं होने के कारण असत् है। वह एकांततः वाच्य-अवाच्य, सदृश-विसदृश भी नहीं है।

जिज्ञासा चेतना की अनंत प्यास है। मनुष्य केवल जीना ही नहीं चाहता, कुछ जानना भी चाहता है। इंद्रियों की ऊर्जा स्थूल एवं बाह्य जगत तक ही फैलती है। उनके माध्यम से जाना हुआ सत्य आंशिक सत्य से अधिक नहीं होता। सत्य केवल उतना ही नहीं होता, जितना हम जानते हैं। आधुनिक विज्ञान इसका संवादी है कि जो सूर्य छोटा-सा और पृथ्वी के निकट प्रतीत होता है, वह पृथ्वी मंडल से 9300000 मील दूर और आकार में पृथ्वी से साढ़े बारह लाख गुना बड़ा है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आईंस्टीन ने कहा—हम तो केवल आपेक्षिक (रिलेटिव ट्रुथ) को जानते हैं। पूर्ण सत्य अथवा निरपेक्ष सत्य (एबसोल्यूट ट्रुथ) कोई आत्म-द्रष्टा ही जान सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में डाक्टर जेकिल और मिस्टर हाइड जैसी विरोधी वृत्तियां हैं। जीवन में सामंजस्य-विसंगतियां, उत्कर्ष-अपकर्ष, उतार-चढ़ाव आदि विरोधी धर्मों का संगम है। दोनों ही सत् के धर्म हैं।

सत् क्या है?—'उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकं सत्'—उत्पाद-विनाश के चक्र में जिसका अस्तित्व कायम है, वह सत् है। विज्ञान की भाषा में शक्ति का विनाश नहीं, रूपांतरण होता है। हाइड्रोजन-ऑक्सीजन का सम्मिश्रण रूप जल 100 डिग्री तापमान पर वाष्प और पुनः शीतल होकर मेघ बनकर बरसता है। वही जल कार्बन, नाइट्रोजन आदि से युक्त होकर फलों में मधुर रस में परिणत हो जाता है। रस शरीर में रक्त, मज्जा आदि सप्त धातुओं में रूपांतरित हो जाता है, किंतु द्रव्यत्व सुरक्षित है।

बौद्धों के क्षणिकवाद में नित्यस्वरूप का खंडन है, किंतु एकांततः निरन्वय क्षणिक मानने से कर्म तथा कर्मफल—दोनों का एकाधिकरण नहीं बनता। इससे कृतनाश और अकृतागम दोषों की उत्पत्ति होती है।

जैन दर्शन का वज्र आघोष है—वस्तु मात्र परिणामी नित्य है। अनेकांत का उद्देश्य है—सत्य का उद्घाटन। वह मानव को सर्वतंत्र, स्वतंत्र चिंतन देता है। विचार-सहिष्णु बनाता है। 'ही' की कैद से मुक्तकर 'भी' के नंदनवन का आनंद देता है। 'भी' अनाग्रह का द्योतक है। 'ही' आग्रह का। एक ने कहा—दिल्ली पूर्व में है। दूसरे के अभिमत से पश्चिम में। अपेक्षा दृष्टि से दोनों सत्य हैं।

वस्तु-स्वरूप का वर्णन करने के लिए जो वचन-व्यवहार होता है उसे सप्तभंग कहते हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति-नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

वस्तु-स्वरूप में विधि के साथ निषेध का भी उतना ही मूल्य है। कुछ विद्वानों के अभिमत से—विरोधी धर्मों का एकाधिकरण संकर दोष का जनक है। यह उनका केवल दृष्टिभ्रम है। एक हॉल में सहस्रों बल्ब जलते हैं। सभी अपने-अपने प्रकाश में स्वतंत्र हैं। यहां प्रकाश की एकता है। संकर दोष नहीं। यदि इसे संकर दोष माना जाए तो ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि गुणों का अधिष्ठान आत्मा में भी मानना पड़ेगा। संकर दोष दूध-पानी जैसा होता है, जिसे भिन्न करने में किसी रासायनिक प्रक्रिया की अपेक्षा है। अस्ति-नास्ति का सहवास वैसा नहीं है। ये दोनों एक-दूसरे में रहकर भी स्वभाव से भिन्न हैं। लोक-व्यवहार में बैंक में चेक लेने वाले और देने वाले दोनों की कार्य-दिशा दो हैं, फिर भी समान रूप से बैंक संपत्ति की सुरक्षा करते हैं। अतः दो विरोधी धर्मों का सहवस्थान मानने में कहीं आपत्ति नहीं है।

कुछ लोग स्याद्वाद को संशयवाद की संज्ञा देते हैं। यह भी निरा भ्रम है। 'स्यात्' शब्द संशय या अनिश्चय का सूचक नहीं, बल्कि कथंचित् (किसी अपेक्षा) अर्थ का द्योतक है। यह सुलझा हुआ दृष्टिकोण है। किसी तत्त्व के निर्णय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि का चिंतन करना अपेक्षित है। वायुयान एक है और प्रश्न अनेक हैं। यह किससे बना है?, कहां बना?, कब बना?, कैसा है? उत्तर भी उसी रूप से दिया जाता है। विमान में अल्यूमीनियम, लोहखंड, लकड़ी आदि उसके द्रव्य हैं। बेंगलोर में बना है। उत्पादन क्षेत्र बेंगलोर है। जिस समय बना वह काल और उसकी आकृति, वर्ण, रूप तथा उड़न-शक्ति आदि भाव अवस्था हैं। तब विमान का कुल मिलाकर पूर्ण रूप बनता है।

कोई नया तत्त्व दृष्टिपथ पर आते ही सात-प्रश्न मस्तिष्क पर दस्तक देने लगते हैं। एक व्यक्ति बाजार में पेन खरीदने जाता है। वह सीधा मूल्य देकर नहीं खरीद लेता है, अनेक प्रश्न होंगे।

दूकानदार समाधान देता है—यह पेन प्लास्टिक का है। 'पारकर' कंपनी द्वारा निर्मित है। यह पेन अमुक कंपनी का है। इंग्लैंड में बना है। पचास रुपये का है। सन् 1971 में बना है। लिखने में उपयोगी है। सभी प्रश्न पेन से संबंधित हैं। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से पूछे गए हैं, पर उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

अब तक यह समझा जाता था कि अणु एक बिंदु है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई नहीं होती, किंतु प्रयोगों से स्पष्ट हो गया। अणु कभी बिंदु की तरह व्यवहार करता है, कभी तरंग की तरह। अणु कण भी है, तरंग भी है। इसलिए आईंस्टीन को एक नया शब्द 'क्वांटम' खोजना पड़ा। क्वांटम का अर्थ है—अणु कण भी है, लहर भी है। दोनों संभावनाएं एक साथ हैं। आईंस्टीन ने सापेक्षतावाद को निरपेक्ष मान्यता नहीं दी।

कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं है। वह अनेक विरोधी धर्मों का समूह है। वस्तु एक प्रकार से संबंधों की अमराई है। भाषा उस वस्तु के एक आयाम, गुण या संदर्भ को ही व्यक्त कर सकती है। भाषा इतनी सक्षम नहीं कि एक साथ सभी विरोधी संदर्भों को अभिव्यक्ति दे सके।

अध्यात्मवादी डी.टी. सुजकी के अभिमत से भाषा हमारी स्वानुभूति को संप्रेषित करने में लाचार है। वस्तु को जब भी समझना होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार संदर्भों को ध्यान में रखकर ही समझ सकते हैं। अनुभव के अनेक कोण हैं। प्रत्येक कोण पर खड़ा आदमी सही है। भूल वहां होती है जब वह अपने ही कोण को सर्वग्राही बनाना चाहता है। स्याद्वाद अनंत दृष्टि-बिंदु का निष्पक्ष संग्राहक है।

स्याद्वाद की उपासना, निष्पक्षता की उपासना है। निष्पक्ष व्यक्ति का जीवन समतल भूमि पर विचरण करने जैसा है। जबकि पक्षाग्रही या एकांतवादी का जीवन बाधायुक्त दौड़ के समान है। मताग्रही अपने ही पक्ष की पैरवी करता है। इससे आदान-प्रदान की दिशा बंद हो जाती है। नए प्रकाश और सौंदर्य के पर्यवेक्षण तथा जीवन के अलौकिक आनंद से वंचित रह जाता है।

भगवान महावीर ने अहिंसा की जितनी गहराई से व्याख्या की, अनेकांत दर्शन में भी वे उतने ही गहरे थे। दार्शनिक विवादों के लिए समन्वय का यह एक उदात्त सूत्र दिया है। जैन दर्शन इसका पर्याय ही बन गया। स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है, आत्मा है। समता-समन्वय का अमोघ साधन है। भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल वैशिष्ट्य है। अनेकांत के बिना अहिंसा पंगु है। अनेकांत वैचारिक क्रांति के द्वार पर बैठा सजग प्रहरी है। अनेकांत के गवाक्षों को खोलकर प्रत्येक व्यक्ति सत्य का दर्शन पा सकता है।

सत्य के उद्भावक भगवान महावीर ने पदार्थ-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए कहा—'उप्पन्ने वा, विगमे वा, धुवे वा'—अर्थात् पदार्थ उत्पन्नधर्मा, विनाशधर्मा और ध्रौव्य है। उत्पन्न-विनाश विरोधी युगल हैं। इनका सहवस्थान अवश्य ही चामत्कारिक है। पर अनेकांत की भूमिका पर समस्या जटिल पहेली बनने से बच जाती है।

पदार्थ का स्वभाव जहां उत्पन्न (ओरिजिनेशन) होना और विनाश (डिसएपियरेंस) होना है, वहां स्थिर रहना भी स्वभाव से परे नहीं है। स्थिरता उसका सत्ता-स्थापक धर्म है। उत्पत्ति-विनाश क्रमभावी। क्रमभावी धर्म से रूपांतरण होता रहता है और सत्ता-स्थापक धर्म से स्थिर है।

इस अव्युच्छेद-व्युच्छेद धर्म के आधार पर ही वह नित्यानित्य है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभावगत धर्म से विहीन नहीं होता। स्वभावच्युत होने पर सद् की असद् में, असद् की सद् में परिणति होकर दोषापत्ति का कारण बन जाता है। अतः पदार्थ स्वयं अनेकांत का प्रतीक है। अभिव्यक्ति अनेकांत सापेक्ष है।

अनंत धर्मों का एक साथ विवेचन करना असंभव है। कारण, शब्द ससीम है और पदार्थगत धर्म असीम है। असीम को ससीम की सीमा में बांधना उतना ही दुष्कर है जितना आकाश को भुजाओं में बांधना।

सत्य हमेशा सत्य है। देश, काल-सापेक्ष होकर वह भिन्न परिधानों में हमारे सामने आता है। आम खाना भारत में अनुचित नहीं माना जाता, अमेरिका में उसका प्रवेश भी वर्जनीय है। यह देश-सापेक्ष है। सामान्यतः भारत और अमेरिका में सूर्योदय के कालमान में साढ़े पांच घंटे का अंतर माना जाता है। उदय-अस्त होना सत्य है, पर विभिन्नता काल-सापेक्ष है। सत्य-अधिग्रहण में सापेक्षता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

प्राकृतिक स्थितियों के संदर्भ में पाश्चात्य विचारक रसियन ने लिखा है—'वस्तु की क्षणिकता भी सापेक्षता

से जुड़ी है। दृश्यमान जगत में न किसी पदार्थ की सृष्टि होती है, न एकांततः विनाश। केवल रूपांतरण होता है। वह रूपांतरण भी निरपेक्ष नहीं।' इसी तरह वे कहते हैं—'समुद्र की लहरें उठती हैं, इसलिए कि उन्हें हवा दबाती है। हवा पर वायुमंडल का दबाव है। वायुमंडल सूर्य से तपता है। सूर्य में ताप पारमाणविक विकिरण की क्रिया का फल है। पारमाणविक प्रक्रिया अकल्पनीय बढ़े हुए तापमानों का प्रभाव है। तापमान इसलिए उठते हैं कि वहां प्रचंड दबाव पड़ता है। दबाव आकर्षणशक्ति के खिंचाव का कारण है।'

उपरोक्त तथ्य से रसियन ने अनेकांत की पुष्टि की है। व्यावहारिक निदर्शन के परिवेश में इसकी वास्तविकता का मूल्यांकन और अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक मॉडल के चारों ओर बैठे विद्यार्थी एक साथ चित्र रेखा खींचते हैं। स्वस्थान की अपेक्षा सही है, किंतु अनेकांत की व्यापक और विशाल भूमिका पर अन्य स्थान की अपेक्षा से भी सही है।

तालाब पानी से भरा है। ज्येष्ठ-आषाढ़ की चिलचिलाती धूप में पानी सूख जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सर्वथा निरस्तित्व हो गया है। वाष्प या गैस—किसी रूप में वह अवश्य विद्यमान है। रूपांतरण त्रिकालवर्ती है। उसका सूक्ष्म रूप भले चाक्षुष नहीं है, फिर भी सत्य को नकारा नहीं जाता। अनेकांत अनाग्रह का सूचक है।

आग्रहशील व्यक्तियों के लिए सत्य की परिधि उतनी ही है जो परंपरा से पोषित है। यहां सत्य का प्रथम चरण व्यामोह के तूफान से लड़खड़ा जाता है। विवाद और विग्रह बढ़ जाते हैं। दुराग्रह में जड़ता होती है, सत्याग्रह में विवेक। सत्य-संधित्सु के चिंतन की खिड़कियां सदा स्वस्थ वायु के लिए खुली रहती हैं।

पुराकाल में जिन दर्शनों का दृष्टिकोण विशाल नहीं रहा है, काल-प्रवाह के साथ वे वाद-विवाद के झंझावातों में उलझ गए। एक-दूसरे को परास्त करने का दृष्टिकोण प्रधान हो गया। द्वैत-अद्वैत, हीनयान-महायान का संघर्ष खूब चला। जैन समाज भी पीछे नहीं रहा। खंडन-मंडन के बौद्धिक द्वंद्व में फंसकर वे भी अहिंसा और अनेकांत के सिद्धांत से दूर होते जा रहे हैं। राग-द्वेष विजेता, संस्कृति के उपासक स्वयं राग-द्वेष और मिथ्याभिनिवेश के शिकार हो गए। इससे बढ़कर अनेकांत की विडंबना क्या होगी?

अनेकांत एक मनोवैज्ञानिक और समन्वयवादी जीवन-दर्शन है। दुराग्रह की कुहेलिका को विच्छिन्न कर सत्यालोक की प्राप्ति अनेकांत से ही संभव है। सत्य असीम है। सार्वजनिक है। पंडित नेहरू के शब्दों में—'हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सत्य विविधताओं से पूर्ण है। उस पर किसी वर्ग का विशेषाधिकार नहीं है।' सत्य को सीमा में बांधना उसके साथ अन्याय और दुस्साहस है। संकीर्णता है। संकीर्णता को गांधीजी ने पागलपन कहा है।

उन्होंने कहा—इस बात की अपेक्षा नहीं कि सबका धर्म एक बना दिया जाए, बल्कि अपेक्षा है भिन्नता में अभिन्नता की स्थापना करना। परस्पर सहिष्णुता और सौहार्द भाव का विकास करना। विविधताओं में एकता, वैमनस्य में समन्वय, घृणा में प्रेम बढ़े, यही अनेकांत है। इससे दिव्य चक्षुओं का उद्घाटन होगा। धर्मांधता और दिव्य चक्षुओं में दो ध्रुवों का-सा अंतर है।

मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओं की गति इस ओर कम रही, पर जैन समाज भी अनेकांत का पूरा उपयोग नहीं कर सका। इसलिए सत्य का राजमार्ग कंटकाकीर्ण बन गया। युग बड़ी तेजी से बदल रहा है। अब भी जैन समाज करवट ले। अनेकांत को घट-पट तक ही सीमित न रखकर जीवन की भूमि पर सक्रियता दे। यदि उपेक्षा बरती गई तो भविष्य क्षमा नहीं करेगा।

सत्य हिमालय है। कुछ लोग पूर्वी भाग में रहते हैं, कुछ पश्चिमी भाग में। पर हिमालय एक है। सत्य के ही दोनों पहलू हैं। हमारी अनुष्ठान-विधि में पूर्व-पश्चिम का-सा अंतर हो सकता है, पर लक्ष्य एक है। साध्य एक है। अपेक्षा है अनेकांत को व्यावहारिक रूप देने की। ❖

यह मनुष्यता क्या है? नर कभी अकेला नहीं है, मनुष्य जीवन अकेला नहीं है। वह परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर है, पारस्परिक है, दूसरे मनुष्यों पर निर्भर करता है, पशुओं पर निर्भर करता है, वृक्षों पर निर्भर करता है, प्रकृति पर निर्भर करता है। हवा पर, पानी पर, जमीन पर, गुरुत्वाकर्षण पर, प्रकाश पर—इन सब पर निर्भर करता है और इसीलिए मनुष्य में मनुष्यता की सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य कर्जदार है।

— डॉ. छगन मोहता

आधुनिक संस्कृति ने बदलाव के बीजों का वपन कर विकास के कुकुरमुत्ते खड़े कर दिए हैं।

प्रश्न है कि इस बदलाव की निष्पत्ति क्या है? परिणाम पर विचार करें तो लगता है कि इस बदलाव ने जीवन की लयात्मकता को ही समाप्त कर दिया है। इंद्रधनुषी जीवन के सारे सपने दरकिनार रह गए हैं। जिस लयात्मकता से जीवन में सहजता, सरलता और सुंदरता का समावेश होता है, यह अब कम ही नजर आती है। अलयात्मक जीवन 'इरिटेशन', 'टेंशन', 'फ्रस्ट्रेशन' और 'डिप्रेशन' का शिकार होता जा रहा है।

संतुलित लय : स्वस्थ मस्तिष्क

साध्वी शुभ्रयशा

मनुष्य बदल गया है। वह अकेला नहीं बदला है। उसने प्रकृति को भी बदल दिया है, परिवेश को भी बदल दिया है और जीवन-शैली में भी आमूल-चूल परिवर्तन आ गया है। आधुनिक संस्कृति ने बदलाव के बीजों का वपन कर विकास के कुकुरमुत्ते खड़े कर दिए हैं।

प्रश्न है कि इस बदलाव की निष्पत्ति क्या है? परिणाम पर विचार करें तो लगता है कि इस बदलाव ने जीवन की लयात्मकता को ही समाप्त कर दिया है। इंद्रधनुषी जीवन के सारे सपने दरकिनार रह गए हैं। जिस लयात्मकता से जीवन में सहजता, सरलता और सुंदरता का समावेश होता है, यह अब कम ही नजर आती है। अलयात्मक जीवन 'इरिटेशन', 'टेंशन', 'फ्रस्ट्रेशन' और 'डिप्रेशन' का शिकार होता जा रहा है।

विकसित और संपन्न देशों ने भौतिक संसाधनों की चकाचौंध में जीवन की लयात्मकता को दांव पर रखकर आगे बढ़ने की दौड़ लगाई, उन्हें सफलता भी मिली। लेकिन, परिणाम तो बहुत ही खौफनाक रहे।

अमेरिका में हुए एक सर्वे के अनुसार वहां 25 फीसदी लोग गंभीर मनोरोगों से पीड़ित हैं। इससे भी अधिक चिंताजनक सूचना यह है कि 50 प्रतिशत लोग किसी-न-किसी दिमागी या मानसिक रोग के शिकार हैं। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मैंटल हेल्थ के डायरेक्टर डॉ. थामस इनसैल का कहना है कि अमेरिकी समाज में मनोरोगों की समस्या काफी गंभीर है। 17 फीसद लोग 'डिप्रेशन' के शिकार हैं। 13 प्रतिशत लोग शराब के कारण तंत्रिका-तंत्रीय रोगों के शिकार हैं और 12 प्रतिशत लोग कई प्रकार के 'फोबिया' के शिकार हैं। इसके अलावा 50 प्रतिशत लोग ऐसे हैं—जिन्हें मनोरोग हैं, किंतु वे अपने रोग से वाकिफ नहीं हैं। कुल मिलाकर अमेरिका के बहुतायत लोग मनोरोग से संबंधित बीमारियों के शिकार हैं। सर्वे के ये आंकड़े बदलती संस्कृति से आए ऐसे बदलाव पर कई प्रश्न खड़े करते हैं। जैसे—

- क्या जीवन को दांव पर लगाकर अर्थार्जन करना खतरे की घंटी नहीं है?
- शरीर की निरंतर बदलती लय से बिगड़ती सेहत का जिम्मेदार कौन है?
- क्या मात्र प्राचीन जीवन-शैली को बदल कर हम आधुनिक बन सकते हैं?
- क्या लयात्मक जीवन-शैली से मनोकायिक रोगों का इलाज संभव है?

हम देखते हैं कि बहुत-से लोग दिन में सोते हैं और रात को पैसा कमाते हैं। अधिकतर युवावर्ग बड़े-बड़े शहरों के 'काल सेंटर्स' पर काम करते हैं। इससे बेरोजगारी

की समस्या का कुछ समाधान अवश्य हुआ है, किंतु क्या हमने कभी सोचा कि इसके दूरगामी परिणाम कितने घातक होंगे? ऐसा करके क्या अपने देश की युवा पीढ़ी को गर्त में नहीं धकेल रहे हैं?

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो पाते हैं कि मानव-मस्तिष्क के बीचों-बीच मटर के दाने के आकार की एक ग्रंथि है, जिसे 'पीनियल' ग्रंथि कहते हैं। इस ग्रंथि से एक स्राव निकलता है। इसे 'मेलाटॉनिन' कहा जाता है। इस ग्रंथि पर प्रकाश व अंधकार का प्रभाव पड़ता है। सायं होते ही इस ग्रंथि का स्राव शुरू हो जाता है। इसलिए इसे 'नाइट हारमोन' भी कहते हैं। 'मेलाटॉनिन' का सीधा संबंध प्रतिरोधक शक्ति, आयु-सीमा और कैंसर जैसी बीमारियों के साथ है। हम जरा विचार करें कि युवावर्ग की यदि यही दिनचर्या रही तो उनका भविष्य क्या होगा? ऐसी स्थिति लंबे समय तक बनी रही तो—1. रोग-प्रतिरोधात्मक क्षमता कम हो जाएगी। 2. अनिद्रा की बीमारी हो जाएगी। 3. युवजन समय से पहले ही वृद्ध हो जाएंगे। 4. प्रजनन-क्षमता में कमी आ जाएगी। 5. उच्च रक्तचाप में वृद्धि हो जाएगी।

शोधकर्ताओं के अनुसार त्वचा के लिए यह 'हार्मोन' विटामिन 'ए' व 'सी' और 'कैरोटीन' से अधिक शक्तिशाली होता है। वातावरण में मुक्त विचरण करने वाले विजातीय तत्त्वों को रोकने में 'मेलाटॉनिन' की मुख्य भूमिका होती है, अन्यथा ये विजातीय तत्त्व जैविक-कोशिकाओं की भीतरी संरचना में प्रवेश कर जाते हैं, जिसके कारण कैंसर जैसी घातक बीमारियां शरीर में डेरा डालने लगती हैं। इस प्रकार 'मेलाटॉनिन' की कमी से होने वाले सारे दुष्परिणाम भारतीय युवावर्ग के चिर-युवा बने रहने के स्वप्न को समय से पहले ही धूमिल कर देंगे।

प्राचीनकाल में मनुष्य की जीवन-शैली सहज रूप से लयात्मक होती थी। जिस समय जो काम करना होता, प्रायः वह काम उसी समय संपादित हो जाता था। किंतु, वर्तमान मनुष्य की जीवन-शैली इतनी जटिल व भागमभाग-भरी हो गई है कि जिसके कारण जीवन की लयात्मकता ही अस्त-व्यस्त हो गई है। इससे मस्तिष्कीय 'न्यूरोंस' की क्षमता में भी भारी गिरावट आई है। पचास वर्ष के बाद प्रायः व्यक्तियों की यह शिकायत रहती है कि हमारी याददाश्त कम हो गई। ऐसा क्यों? यह सब अनियोजित जीवन-शैली का परिणाम है।

आज का व्यक्ति सामान्यतः नाश्ते के समय उठता है और भोजन के समय नाश्ता करता है। रात में सोने के समय उसका सायंकाल का भोजन होता है। जिसके कारण उसकी 'बायोलॉजिकल क्लॉक' की 'रिद्म' बेसुरी हो गई है।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति सब-कुछ करते हुए भी आनंद का अनुभव नहीं कर सकता। अपने-आप को सहेज कर नहीं रख सकता। वह थोड़ी-सी बात के लिए भारी प्रतिक्रिया कर डालता है। अचानक उत्पन्न हुई परिस्थिति से उबर नहीं सकता। अचानक आई बड़ी खुशी या दुख में धैर्य नहीं रख सकता। जीवन के निर्णयात्मक चौराहे पर खड़ा होकर सही मोड़ नहीं ले सकता। वह इस बात को समझ नहीं सकता कि जीवन में 'रिवर्स गियर' की तरह एक कदम पीछे हटकर भी जीवन-भर आगे रहा जा सकता है।

मानव-शरीर के लिए 'कार्डियक' रिद्म एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। चिकित्सकों के अनुसार इसका न होना या बिगड़ जाना रोगों को निमंत्रण देना है। लयात्मक जीवन-शैली के द्वारा मनोकायिक बीमारियों का इलाज संभव है। मनोकायिक बीमारी का मूल कारण है—'हाइपोथेलेमस' का असंतुलन। 'हाइपोथेलेमस' द्वारा संचालित इस लय का नियमन मस्तिष्क में 'पीनियल' ग्रंथि के द्वारा किया जाता है। अमेरिका में किए गए शोध से ज्ञात हुआ है कि यदि 'हाइपोथेलेमस' के भाग में ट्यूमर हो जाए तो शारीरिक लय बिल्कुल समाप्त हो जाती है। यद्यपि आज बाजार में 'मेलाटॉनिन' की गोलियां व 'कैप्सूल' आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं। किंतु इनमें 'मेलाटॉनिन' की मात्रा नहीं के बराबर होती है। इन दवाओं से मात्र मानसिक तुष्टि होती है। समस्या का समाधान नहीं हो पाता। श्रेष्ठ तरीका यही है कि प्राकृतिक रूप से लय को सही किया जाए। प्रेक्षाध्यान के अंतर्गत आंतरिक अवयवों की लय को व्यवस्थित करने के अनेक प्रयोग हैं। इनमें से दो महत्त्वपूर्ण प्रयोगों की चर्चा करना प्रासंगिक होगा। ये प्रयोग हैं—1. समवृत्ति श्वासप्रेक्षा, 2. ज्योतिकेंद्र प्रेक्षा।

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा

इस प्रयोग में श्वास की गति को मंद किया जाता है। धीरे-धीरे लंबा श्वास छोड़ें और धीरे-धीरे लंबा श्वास लें। श्वास को लयबद्ध और समताल करें। श्वास को

छोड़ने में जितना समय लगे, उतना ही समय लेने में लगे। पूरा श्वास बाहर निकालें। अब बाएं नथुने से श्वास लें और दाएं से निकालें। फिर दाएं से लें और बाएं से निकालें। संकल्पशक्ति के द्वारा ऐसा किया जाना चाहिए। यदि संकल्पशक्ति के सहारे न कर सकें, तो अंगुली और अंगूठे के सहारे करें। श्वास के साथ चित्त को जोड़ें। चित्त और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें। केवल श्वास का अनुभव करें। प्रयोग के समय आंखें बंद रखें।

ज्योतिकेंद्र प्रेक्षा

इस विधि में चित्त को ललाट के मध्यभाग में ज्योतिकेंद्र पर केंद्रित किया जाता है। वहां पर चमकते हुए श्वेत रंग का ध्यान करें। शरीर के जिस अवयव पर ध्यान करते हैं, चेतना का प्रवाह उस ओर प्रवाहित होना प्रारंभ हो जाता है। प्राण की सक्रियता से ज्योतिकेंद्र का संवादी स्थान 'पीनियल' सक्रिय हो जाता है और इस ग्रंथि की सक्रियता से शरीर में 'मेलाटॉनिन' स्राव संतुलित हो जाता है। यह एक ऐसा 'हार्मोन' है जो कि शारीरिक अंगों, सूक्ष्म तत्त्वों व कोशिकाओं की सक्रियता से जीवन के साथ ताल-मेल बिठाता है। शोधकर्ताओं का मानना है कि मानवीय घड़ी को 'मेलाटॉनिन' स्राव से पुनर्जीवित किया जा सकता है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

एक दिन सवेरे किसी गिलहरी को बार-बार चीखते सुना। फिर मैंने एक गिलहरी को अपनी ओर दौड़ते देखा। वह रानी ही थी। वह पहले मेरी ओर आई। फिर घर के पिछवाड़े की ओर भागी। मैं समझ गया कि रानी मुसीबत में है। वह मदद चाहती थी। मैं भी उसके साथ मकान की ओर भागा। वहां मैंने देखा कि एक लंबे मोटे सांप ने एक गिलहरी को दबोच रखा है। मैं चिल्लाया, 'दौड़ो, दौड़ो'। मेरी चीख-पुकार सुनकर मेरे मामाजी भागे आए। गिलहरी को बचाने की कोशिश करने लगे। उन्होंने एक लंबा बांस लेकर उसके एक सिरे से सांप को धर दबाया। दर्द से छटपटा कर सांप ने गिलहरी को छोड़ दिया। जैसे ही बांस हटाया गया, सांप नौ-दो-ग्यारह हो गया।

गिलहरी रानी

शंकर

बालकथा

एक बार मैं अपनी मौसी के घर गया हुआ था। वहीं बाग में एक कुत्ता एक गिलहरी का पीछा कर रहा था और इसके पहले कि कुत्ता उसको दबोचे, मैंने भाग कर गिलहरी को बचा लिया।

नानी को घर में गिलहरी रखना पसंद नहीं था। वह उसे छोड़ना चाहती थी। वह कहने लगी—'नन्ही-सी तो है यह, और बीमार भी है। यह तो जल्दी ही मर जाएगी।'

मैंने कहा—'हां, बच्चा तो है ही, और बीमार भी है बेचारी। इसीलिए तो इसकी देख-भाल करने की जरूरत है। मैं इसे पालूंगा।'

इतने में नाना पीछे से बोले—'क्यों रखना चाहते हो इसे? इसके मां-बाप न जाने कितना रो रहे होंगे बेचारे। क्योंकि तुम उनके बच्चे को उनसे छीन लाए।'

मैंने कहा—'लेकिन नानाजी, मैंने इसे मौसी के घर में एक कुत्ते के पंजे से बचाया है। मैं जानता था कि कुत्ता उसे मार डालेगा। फिर उसे वहां कैसे छोड़ देता?'

नानाजी ने और कुछ नहीं कहा। वे बाहर चले गए। मैं समझ गया कि मुझको गिलहरी को रखने की अनुमति मिल गई। अब नानी भी कुछ नहीं कहेगी। मैंने गिलहरी का नाम रखा रानी। घर में रानी को रखने लायक कोई जगह नहीं थी। रात-भर तो मैंने एक कागज के बक्से में रखा। हवा के लिए उसमें छेद बना दिए। दूसरे दिन मामाजी उसके लिए एक चिड़ियोंवाला पिंजड़ा उठा लाए। मैंने उसी में रानी का सुंदर-सा घर बना दिया और अपने कमरे में एक खूंटी पर टांग दिया।

मैंने पिंजड़े को रानी के लिए अच्छा-सा घर बना दिया। उसमें उसके लिए एक नन्हा गुदगुदा बिस्तर लगा दिया। उसके खाने के लिए एक तश्तरी और पीने के लिए एक प्याला रख दिया गया।

पहले-पहल तो मैं ही उसको खाना खिलाता था। कुछ दिनों बाद वह अपने-आप ही खाने लगी। मैं उसको दूध, फल और मेवे के टुकड़े खिलाता था। इसलिए पिंजड़े में हमेशा फल और मेवे के टुकड़े समय पर रख दिए जाते थे।

रानी बड़ी होने लगी। वह दौड़ने और मेरे साथ खेलने लगी। जब मैं उसका नाम लेकर पुकारता, वह भागती हुई मेरे पास आ जाती। जहां-कहीं भी मैं जाता, वह मेरे पीछे-पीछे आ जाती।

एक दिन रानी और मैं बाग में गए। बाग में जाकर वह बहुत खुश हुई। फूल, पौधों पर दौड़ती-भागती रही। अचानक रानी एक पेड़ पर चढ़ गई और डालों, पत्तों के बीच खो गई। जब मैंने उसका नाम लेकर पुकारा तो वह नीचे उतर आई। मैं समझ गया कि रानी को घर से अच्छा बाग में लगता है।

उसे घूमने-फिरने की पूरी आजादी देने के लिए मैं पिंजड़े की खिड़की खुली छोड़ देता था। वह जब चाहती, बाहर आ जाती। जब चाहती, पिंजड़े में लौट आती। वह अकेली ही बाहर जाने-आने लगी।

सुबह वह बाहर निकल कर मेरे साथ खेलती। फिर वह बाग में भाग जाती। पेड़ों पर चढ़ कर फल कुतरती। सारा दिन वह बाग में खेला करती।

जल्दी ही रानी सयानी हो गई। अब वह दूसरी गिलहरियों की तरह पूरी आजाद थी। हमारे घर में अब भी उसका अपना नन्हा-सा घरोंदा था। वहां वह सिर्फ रात को अपने पिंजड़े में सोने आती।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, रानी कम दिखाई पड़ने लगी। कभी-कभी जब रात को मैं उसे पुकारता, मेरी पुकार सुनते ही वह जाग कर दौड़ी आती।

फिर मैंने उसे रात में जगाना छोड़ दिया। अब तो वह कई-कई दिन नजर नहीं आती थी।

फिर एक बार मैंने उसे हफ्तों नहीं देखा। एक दिन मैंने उसे बाग में देखा, पर वह अकेली नहीं थी। वह एक दूसरी गिलहरी के साथ खेल रही थी। मैंने रानी को पुकारा। वह पहले तो झिझकी, फिर मेरे पास दौड़ी आई। उसका साथी एक पेड़ पर बैठा हमें ताकता रहा।

उस दिन रात को मैंने पता लगाना चाहा कि रानी घर में है या नहीं। मैंने उसको आवाज दी। वह नहीं आई। मैंने पिंजड़े में झांक कर देखा। पिंजड़ा खाली पड़ा था। वह चली गई थी। मुझे दुख हुआ कि मेरी रानी मुझे छोड़ गई। पर, मैंने तो उसको पूरी आजादी दे रखी थी कि वह जहां चाहे जाए, जैसे चाहे रहे। उसका दोस्त भी तो था। शायद दोनों साथ-साथ रहना चाहते हों।

कई महीने बीत गए। रानी अब शायद ही कभी दिखाई देती। मैं उसको करीब-करीब भूल गया।

एक दिन सवेरे किसी गिलहरी को बार-बार चीखते सुना। फिर मैंने एक गिलहरी को अपनी ओर दौड़ते देखा। वह रानी ही थी। वह पहले मेरी ओर आई। फिर घर के पिछवाड़े की ओर भागी। मैं समझ गया कि रानी मुसीबत में है। वह मदद चाहती थी। मैं भी उसके साथ मकान की ओर भागा। वहां मैंने देखा कि एक लंबे मोटे सांप ने एक गिलहरी को दबोच रखा है। मैं चिल्लाया, 'दौड़ो, दौड़ो'। मेरी चीख-पुकार सुनकर मेरे मामाजी भागे आए। गिलहरी को बचाने की कोशिश करने लगे। उन्होंने एक लंबा बांस लेकर उसके एक सिरे से सांप को धर दबाया। दर्द से छटपटा कर सांप ने गिलहरी को छोड़ दिया। जैसे ही बांस हटाया गया, सांप नौ-दो-ग्यारह हो गया।

गिलहरी जमीन पर बिना हिले-डुले पड़ी थी। मैंने उसे धीरे से उठा लिया। वह मर गई थी। मैं पहचान गया कि वह रानी की दोस्त थी। मुझे बहुत दुख हुआ कि हम लोग रानी के दोस्त को नहीं बचा पाए। बेजान गिलहरी को वहीं छोड़ मैं घर लौट पड़ा।

रानी हमें एक पेड़ पर से देख रही थी। वह नीचे आई और बड़ी देर तक अपने दोस्त के शरीर को सूंघती रही। वह समझ गई थी कि उसकी दोस्त मर गई। फिर रानी पेड़ पर वापस चली गई। अचानक एक बड़ी-सी चील तीर की तरह नीचे उतरी और झपट्टा मार कर मरी हुई गिलहरी को पंजे में दबा ले उड़ी। रानी जोर से चीख उठी। हम लोग बेबस खड़े-खड़े देखते ही रहे। कर भी क्या सकते थे?

रानी अचानक रोती हुई और ऊपर भाग गई, मानों एकाएक किसी चीज से डर गई हो। दौड़ती हुई वह पेड़ की चोटी पर बने एक घोंसले में घुस गई। मामा ने कहा— 'देखा राजा, वही है रानी का घर। मुझे लगता है कि उसका बच्चा घोंसले के अंदर है।' उसे अचानक बच्चे की याद हो आई थी, इसीलिए वह भाग कर ऊपर चढ़ गई।

मैं तो सारा दिन ही बहुत उदास रहा। शाम को भी

मैं कमरे में अकेला बैठा था। मैंने गिलहरी की आवाज सुनी। मैंने देखा कि सामने रानी थी। अपने नन्हे को मुंह में दाबे हुए। आगे आकर उसने बच्चे को जमीन पर रख दिया। मैं यह भी न समझ सका कि वह अपने बच्चे को लेकर मेरे पास क्यों आई।

मैंने नाना, नानी और मामा को बुलाया। वे लोग तुरंत आए। रानी के बच्चे को देख कर उन्हें ताज्जुब हुआ। मामाजी ने कहा—'रानी को शायद गिद्ध और सांप का डर है। वह चाहती है कि तुम उसके बच्चे को बचा लो।' मैं अंदर जाकर पुराना पिंजड़ा उठा लाया। उसी पुरानी जगह पर लटका दिया। गिलहरी के बच्चे को पिंजड़े में रख दिया। मामा ने जैसा कहा, मैंने वैसा ही किया। रानी ने अपने बच्चे को पिंजड़े में देखा तो उसके पास पहुंच कर लगी उसे दूध पिलाने।

हम खड़े रानी को देखते रहे। नानाजी का जी भर आया। वे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगे। उनकी आंखों से आंसू बहने लगे, और उन्होंने गद्गद होकर कहा, 'यह सब ईश्वर की लीला है।' ❖

प्रातःकाल में शुभ संकल्प, दिन-भर सतत प्रयत्न, सोने से पहले सत्कर्मों का भगवान को समर्पण और फिर समाधि—इस तरह का जीवन होगा, तो मनुष्य की उन्नति होती रहेगी। आत्म-शक्ति के लिए, चित्त-शुद्धि के लिए संकल्प को शुद्ध रखना आवश्यक है।

संकल्प को शुद्ध, परिपूर्ण और मजबूत बनाने के लिए पहले छोटे-छोटे संकल्प करने चाहिए और उन्हें पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिए। संकल्प को पूरा करने पर बल की अनुभूति होती है। इसी को आत्मविश्वास कहते हैं। संकल्प पूरा हो गया, तो मोह में आकर उसे आगे बढ़ाना ठीक नहीं। वह आसक्ति का लक्षण है। और संकल्प को तोड़ना कमजोरी का लक्षण है। आत्मविश्वास प्राप्त हो जाने के बाद आवश्यकता पड़ने पर दूसरी बार बड़ा संकल्प कर सकते हैं।

संकल्प सिद्ध होना चाहिए। शुद्ध संकल्प के सिद्ध होने में ही आत्मा को बल मिलता है और वह उन्नति करता है। संकल्प चाहे अच्छा हो या बुरा, सिद्ध तो आत्मा की शक्ति से ही होता है। परंतु जैसे सत्-संकल्प से आत्मा की उन्नति होती है, वैसे असत्-संकल्प से आत्मा की अधोगति होती है। एक बार विवेक से, परिपूर्ण विचार करने के बाद संकल्प कर लिया, फिर यदि कोई दूसरा उसमें व्यावहारिक दोष भी बताए, तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए। वैसा करने से संकल्प-शक्ति का ह्रास होगा। व्यावहारिक दोष इतने घातक नहीं होते, जितने कि आध्यात्मिक। परंतु यदि नैतिक त्रुटियों का पता चले तो संकल्प तोड़ देना चाहिए। उससे संकल्प-शक्ति खंडित नहीं होती, यद्यपि बढ़ती भी नहीं।

संकल्प इतना सहज या आसान नहीं होना चाहिए कि जिसको पूरा करने में कोई प्रयास या कष्ट ही न हो। और न वह इतना कष्टसाध्य होना चाहिए कि जिसे पूरा करना असंभव या अत्यंत कष्टदायक हो।

— विनोबा भावे

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

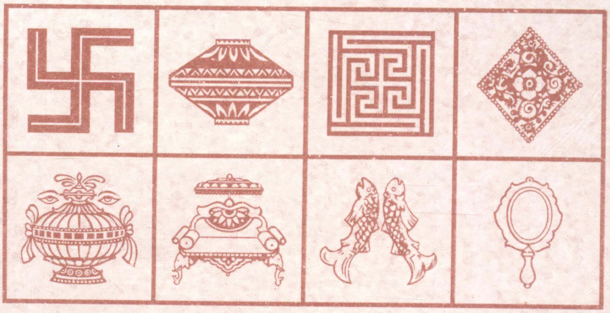

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22253276, (R) 25534815

प्रेषण दिनांक 3 नवंबर, 07
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08
Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence
No. Tech.(WR)47-2/05-06/11 Valid till 31-12-2008
जैन भारती, नवंबर, 2007

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, **Bangalore** 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।